महावीर ग्रंथ प्रकाश मन्दिर की पंचम प्रतिमा

भारतीय सभ्यता

और

उसका विश्वव्यापी प्रभाव

लेखक—

श्री सुखसम्पत्तिराय भण्डारी

प्रकाशक—

श्री महावीर ग्रंथ प्रकाश मन्दिर

भानपुरा

(होलकर-राज्य)

प्रथम संस्करण]　　दीपावली १९८२　　[मूल्य १) रुपया

प्रकाशक—
श्री महावीर ग्रन्थ प्रकाश मन्दिर
भानपुरा (होलकर-राज्य)

मुद्रक—
ग० कृ० गुर्जर,
श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबड़, बनारस । २०५२-२५

भूमिका

कई दिनों के गंभीर अन्वेषण के पश्चात्—पौर्वात्य और पाश्चात्य दिग्गज विद्वानों के सतत परिश्रम के अनन्तर—अब यह बात तो निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि भारतीय सभ्यता संसार की सब सभ्यताओं से प्राचीन है। यद्यपि भारतवर्ष की आधुनिक पतित अवस्था को देखकर कोई भी उसके प्राचीन उज्ज्वल गौरव का अनुमान नहीं कर सकता, तथापि इतिहास कहता है और डंके की चोट कहता है कि हम जैसे आज हैं, वैसे पहले नहीं थे। हमारे पूर्वज उस समय ज्ञानोन्नति की चरम सीमा पर पहुंच चुके थे, जिस समय संसार अज्ञान की मोह-निद्रा में सोया हुआ था। इसी देश में पहले पहल ज्ञान की उन दिव्य किरणों का विकास हुआ, जिन्होंने आगे जाकर संसार को अपने प्रकाश से प्रकाशित किया था। ग्रीस, रोम, मिश्र आदि की सभ्यताएं चाहे कितनी ही प्राचीन क्यों न हों, पर यह बात निश्चित है कि वे सब (सभ्यताएं) भारतीय सभ्यता की ऋणी हैं। यह बात केवल कवि की उच्च कल्पना या नाटककार का सफ़ल स्वप्न नहीं; प्रत्युत ध्रुव सत्य है। यह ऐसा सत्य है कि जिसे बड़े २ नास्तिक ऐतिहासिक भी स्वीकार करते हैं।

वे लोग भूलते हैं जो यह कहते हैं कि प्राचीन भारतवर्ष ने केवल अध्यात्म-विद्या में ही अपनी चरम उन्नति की थी, यद्यपि यह सत्य है कि हमारे पूर्वजों का अन्तिम लक्ष्य आधुनिक पश्चिम की तरह चरम भौतिक उन्नति पर न था। यह भी सत्य है कि वे सांसारिक उन्नति को असार मानते थे और यह भी सत्य है कि उनका प्रधान ध्येय अध्यात्मिक उन्नति ही था। तथापि इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने

भूमिका

कई दिनों के गंभीर अन्वेषण के पश्चात्—पौर्वात्य और पाश्चात्य दिग्गज विद्वानों के सतत परिश्रम के अनन्तर—अब यह बात तो निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि भारतीय सभ्यता संसार की सब सभ्यताओं से प्राचीन है। यद्यपि भारतवर्ष की आधुनिक पतित अवस्था को देखकर कोई भी उसके प्राचीन उज्ज्वल गौरव का अनुमान नहीं कर सकता, तथापि इतिहास कहता है और डंके की चोट कहता है कि हम जैसे आज हैं, वैसे पहले नहीं थे। हमारे पूर्वज उस समय ज्ञानोन्नति की चरम सीमा पर पहुंच चुके थे, जिस समय संसार अज्ञान की मोह-निद्रा में सोया हुआ था। इसी देश में पहले पहल ज्ञान की उन दिव्य किरणों का विकास हुआ, जिन्होंने आगे जाकर संसार को अपने प्रकाश से प्रकाशित किया था। ग्रीस, रोम, मिश्र आदि की सभ्यताएं चाहे कितनी ही प्राचीन क्यों न हों, पर यह बात निश्चित है कि वे सब (सभ्यताएं) भारतीय सभ्यता की ऋणी हैं। यह बात केवल कवि की उच्च कल्पना या नाटककार का सफ़ल स्वप्न नहीं; प्रत्युत ध्रुव सत्य है। यह ऐसा सत्य है कि जिसे बड़े २ नास्तिक ऐतिहासिक भी स्वीकार करते हैं।

वे लोग भूलते हैं जो यह कहते हैं कि प्राचीन भारतवर्ष ने केवल अध्यात्म-विद्या में ही अपनी चरम उन्नति की थी, यद्यपि यह सत्य है कि हमारे पूर्वजों का अन्तिम लक्ष्य आधुनिक पश्चिम की तरह चरम भौतिक उन्नति पर न था। यह भी सत्य है कि वे सांसारिक उन्नति को असार मानते थे और यह भी सत्य है कि उनका प्रधान ध्येय अध्यात्मिक उन्नति ही था। तथापि इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने

भौतिक विज्ञान की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया था। वे भली प्रकार जानते थे कि यह संसार असार होते हुए भी अनादि और अनन्त है, मिथ्या होते हुए भी ध्रुव है। इसकी शांति रक्षा के लिये इसकी व्यवस्था करना जरूरी है। बिना व्यवस्था के काम नहीं चल सकता। इसी तत्त्व पर उन्होंने मनुष्य-जीवन के चार आश्रमों में एक आश्रम "गार्हस्थ्य-जीवन" का भी रक्खा। इस गृहस्थाश्रम में मनुष्य तमाम सांसारिक सुखों का उपभोग और उन्नति कर सकता है। इसी नियम के फल स्वरूप हम देखते हैं कि हमारे पूर्वजों के जीवन में जहां आध्यात्मिकता की ऊंची स्थिति देखी जाती है, वहां सांसारिक विभवों की भी पाराकाष्ठा देखने को मिलती है और जहां हमारे साहित्य में दर्शन और अध्यात्मशास्त्र के ऊंचे २ ग्रन्थ देखने को मिलते हैं वहां भौतिक-विज्ञान—जैसे, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, नगर निर्माणविद्या, लिपितत्त्व, श्रृंगार-रस-मय काव्य आदि—की भी अन्तिम पाराकाष्ठा देखी जाती है। ऐसी पाराकाष्ठा कि जिसके सम्मुख बड़े २ दिग्गज विद्वान तक नतमस्तक हो जाते हैं और भारत की आधुनिक दैन्य अवस्था को देख-कर सहानुभूति के चार आंसू गिरा देते हैं।

कई लोगों का यह ख्याल है कि, पूर्वजों की कीर्त्ति का रोना रोने से कोई लाभ नहीं। उल्टे इस मोहजाल में भूल कर हम अकर्मण्य बन जाते हैं। हम लोगों के अन्दर प्राचीनता का व्यर्थ अभिमान भर जाता है, जिसके प्रभाव से हम लोग कर्त्तव्यच्युत हो जाते हैं। फिर वे कहते हैं कि हमारे पूर्वज अच्छे थे, इससे क्या, काम तो हमारे अच्छे होने से चल सकता है। इत्यादि—

हमारी नाकिस राय में यह मत बिलकुल भ्रममूलक है। पूर्वजों की कीर्त्ति से हम लोगों को अहंकार नहीं होता, वरन् उससे एक ऐसी दिव्य स्फूर्त्ति मिलती है जो हमारे जीवन को गतिविधि देती है। हमारे अंधकार-मय भविष्य पर हमारा उज्ज्वल भूतकाल प्रकाश की

किरणें डालता है, हमारा गौरव-मय इतिहास हमारे तिमिराच्छन्न मार्ग को आलोक-मय कर देता है जिससे हम मार्ग-च्युत न होकर अपने लक्ष्य के समीप आसानी से पहुँच सकते हैं। वह इतिहास हमें हमारे पूर्वजों के अनुभव बतलाता है, जिससे हम हमारे अनुभवों का मार्ग निश्चित कर सकते हैं।

यदि आज भारतवर्ष से गीता का और यूरोप से बाईबल का तथा शेक्सपियर के नाटकों का अस्तित्व उठा दिया जाय तो ऐसी स्थिति में इन देशों की क्या स्थिति होगी, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है।

अतएव यह कहना बिलकुल भ्रममूलक है कि इतिहास की साहित्य में कोई आवश्यकता नहीं। इतिहास साहित्य का स्थम्भ है, सभ्यता का भूषण है, जातीय-जीवन का मूलाधार है।

आज हम दीपावली के शुभ दिन के उपलक्ष्य में बड़े ही आनंद-पूर्वक पाठकों के आगे इसी विषय की एक सुन्दर भेंट लेकर उपस्थित होते हैं। यह छोटीसी पुस्तक आप लोगों के सम्मुख वायस्कोप की तरह प्राचीन भारत का गौरव-मय चित्र खींच देगी। हमारे पूर्वजों के आला दिमाग़ ने गहन से गहन विषय की कितनी सूक्ष्म खोज की थीं, यह आप को इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम हो जायगा।

यह पुस्तक छोटी होते हुए भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यदि पाठक इसे आद्योपान्त पढ़कर उस स्थिति से देश की वर्त्तमान स्थिति से तुलना करेंगे तो अवश्य अपनी प्राचीन स्थिति पर एक लम्बी सांस और आधुनिक स्थिति पर दो बूंद आंसू गिराये बिना न रहेंगे।

शांति मन्दिर, भानपुरा
१—१०—२५

विनीत—
चन्द्रराज भण्डारी "विशारद"

विषय-सूची

—✿—

भारतीय सभ्यता

और

उसका विश्वव्यापी प्रभाव।

पहला अध्याय

भारतीय संस्कृति की प्राचीनता

भारतीय संस्कृति और सभ्यता की प्राचीनता बड़ी आश्चर्य-जनक है। जब सारा संसार अज्ञानता और असभ्यता के अन्धकार से आच्छादित हो रहा था। जब यूनान, रोम, और यूरोप के निवासी घोर बर्बरता के जाल में फँसे हुए थे। जब उनका राष्ट्र की दृष्टि से अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यहाँ दिव्य-संस्कृति और अपूर्व सभ्यता की किरणें अपनी ज्योति के साथ प्रकाशमान हो रही थीं। जब यहूदी जाति की नीव भी उसके आदि पुरुष इब्राहिम द्वारा नहीं डाली गई थी, उस समय आर्य जाति भारतवर्ष की उपत्यका घाटी और नीचानों में फैल चुकी थी। जिस समय यवन देश के प्राचीन कवि होमर और वनिश्रायेल के मधुर गायन की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी। उस समय गंगा और यमुना के पवित्र तटों

पर जटाधारी ऋषि मुनियों ने मन के उच्छ्वास द्वारा जातीय-गौरव के काव्य को रचा और गाया था। जिस समय मिश्र और असुरदेश सभ्यता को प्राप्त कर लेने पर भी घोर मूर्ति-पूजा और घृणित रीति रस्मों के बंधनों में जकड़े हुए थे। उस समय भारतवर्ष अलख, अगोचर और अलख गति के अन्वेषण में निमग्न था। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की इतनी अधिक प्राचीनता को देख कर एक सुप्रख्यात इतिहासज्ञ ने कहा है कि मिश्र-देश के भव्य पिरामिड (Pyramids) और आधुनिक यूरोपीय विद्वानों का माना हुआ शिलायुग (Stone Age) भारतीय सभ्यता की प्राचीनता के सामने कल की वस्तुएँ हैं।

पृथ्वी की आयु की गणना लाख दो लाख वर्षों से नहीं, करोड़ दो करोड़ वर्षों से नहीं, पर अर्बों वर्षों से की जाती है। इतने प्राचीन पृथ्वी-मण्डल पर इतिहास ने जिन जिन संस्कृतियों का अन्वेषण और उल्लेख किया है, उनमें निस्संदेह भारतीय संस्कृति और सभ्यता सब से अधिक प्राचीन है। इस पृथ्वी-मण्डल पर अनेक राष्ट्रों का उत्थान और पतन हुआ; अनेक साम्राज्यों का उदय और अस्त हुआ, अनेक सभ्यताओं का प्रकाश और लोप हुआ, पर भारतीय सभ्यता कई विशेषताओं के कारण अभी तक अपना थोड़ा बहुत अस्तित्व बनाये हुए है। काउन्ट जॉनस्टर्जन ने अपने सुप्रख्यात ग्रन्थ Theogony of the Hindus में लिखा है कि इस पृथ्वी-मण्डल पर एक भी ऐसा देश नहीं है जो हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की प्राचीनता का मुकाबिला कर सके। अमेरिका के येल विश्वविद्यालय के प्रेसिडेन्ट डाक्टर साइल्स संस्कृत साहित्य की प्राचीनता देखकर इतने मुग्ध हो गये थे कि उन्होंने सर विलियम जॉन्स से इस बात की प्रार्थना की थी कि वे

भारतवर्ष में "एडम्स के ग्रन्थ" की तलाश करें। भारतीयों की कालगणना की प्राचीनता को देखते हुए यहूदी धर्म-ग्रन्थों में वर्णित सृष्टि-रचना-काल कल का प्रतीत होता है। कोई भी राष्ट्र अपनी सभ्यता की बाल्यावस्था में सृष्टि-शास्त्र का निर्माण नहीं कर सकता। वह तब ही निर्माण कर सकता है जब उसने सभ्यता की उच्चावस्था प्राप्त की हो। सुप्रख्यात् जर्मन संस्कृत विद्वान् जेकोबी महोदय का कथन है कि भारतवासियों ने ईस्वी सन् के पाँच हजार वर्ष पूर्व सृष्टि-शास्त्र और ज्योतिष-शास्त्र में अच्छी प्रगति कर ली थी। कौन्ट जॉर्नस्टर्जन ने भी अपने Theogony of the Hindus नामक ग्रन्थ में लिखा है—"बेली द्वारा किये हुए गणित से यह प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् के ३००० वर्ष पूर्व में भी भारतवासियों ने ज्योतिष शास्त्र और भूमिति-शास्त्र में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी।" इस से आप पता लगा सकते हैं कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता कितनी प्राचीन है। यह बात हमने विदेशी ग्रन्थकारों के आधार से कही है पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति इससे भी प्राचीन है। कई पाश्चात्य विद्वानों ने यह बात मुक्त-कण्ठ से स्वीकार की है कि संसार में सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। लोकमान्य तिलक ने अपने "Orion" नामक ग्रन्थ में प्रबल प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऋग्वेद का रचना-काल कम से कम ईस्वी सन् से १०००० वर्ष पहिले का है। सुप्रख्यात बंगाली इतिहासज्ञ श्रीयुत् दास महोदय ने अपने Rig-Vedic India नामक ग्रन्थ में तथा श्रीयुत पावगी महाशय ने "भारतीय साम्राज्य" नामक ग्रन्थ में तिलक महोदय के उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वेदों का काल ईस्वी सन् के कई

हजार वर्ष पूर्व का है। हम यहाँ वैदिक काल की प्राचीनता के विषय में अधिक अन्वेषण न कर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि वह अत्यन्त प्राचीन है, और उस समय भारतवासियों ने संस्कृति और सभ्यता में सब से अधिक प्रगति की थी। वे उस समय ज्योतिष शास्त्र, वैद्यक, विज्ञान आदि कई विद्याओं से परिचित थे।

सुप्रख्यात ग्रीक इतिहासकार प्लीनी का कथन है कि बेकस से लगाकर सिकन्दर तक के समय में भारतवर्ष पर १५४ राजाओं ने राज्य किया। इनका राज्य काल ६४५१ वर्ष होता है। सम्राट् अकबर के समय के प्रसिद्ध इतिहासकार अबुलफ़ज़ल ने अपनी राज्यतरङ्गिणी के अनुवाद में कई राजाओं का उल्लेख करते हुए उनका काल ४१०६ वर्ष बतलाया है। प्रोफेसर हीरन अपने Historical Researches नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि डायोनिज (एक भारती राजा) से लगाकर सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय तक ६०४२ वर्ष व्यतीत हुए। मैगेस्थैनिज कहता है कि स्पेंटबस* से चन्द्रगुप्त तक ६०४२ वर्ष गुजरे। कौन्ट जानस्टर्जन अपने Theogony of the Hindus नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—जब चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र में सम्राट् सिकन्दर का राजदूत मेगेस्थैनिज आया था, तब उसे डायोनिसियस से चन्द्रगुप्त तक के १५३ राजाओं के नाम और उनका राज्य काल प्रदर्शित करने वाली राज्य वंशावली देखने का अवसर प्राप्त हुआ था, उस राज्य वंशावली से मेगेस्थैनिज को मालूम हुआ कि डायोनिसियस राजा ईस्वी सन् के ७००० वर्ष पूर्व के लगभग राज्य

* डायोनिज और स्पेंटबस ये अति प्राचीन काल के भारतीय राजाओं के नामों के ग्रीक अपभ्रंश हैं।

करता था। मिश्र के सर्व प्राचीन पिरामिड (Pyramid) को बनाने वाले सोफी राजा ईस्वी सन् के ३८६७ वर्ष पूर्व हुए। कहने कि आवश्यकता नहीं कि ग्रीक लेखकों द्वारा वर्णित भारतीय राजा डायोनिज या डायोनिसियस का काल इनसे बहुत पूर्व का है। सर विलियम जॉन्स लिखते हैं कि मगध पर राज्य करने वाले ८१ राजाओं का पुराणों में निर्देश है। इनमें प्रथम २० राजाओं का काल निर्देश नहीं किया गया है। शेष ६१ राजा केवल एक ही वंश के न होकर भिन्न भिन्न पाँच वंशों के थे। इनमें प्रथम राज्य वंश के प्रदिष्ट राजा से लगाकर नंद राजा तक १६ राजाओं ने राज्य किया, जिनका समय ईस्वी सन् पूर्व २१०० वर्ष से ईस्वी सन् पूर्व १५०० वर्ष तक का है। इसके बाद दूसरे राज्य वंश के १० राजाओं ने ईस्वी सन् पूर्व १३६५ वर्ष तक राज्य किया। शुंग वंश में भी १० राजा थे, इस राज्य वंश की समाप्ति ईस्वी सन् पूर्व १२५३ वर्ष में हुई थी। इसके बाद कराव राज्य कुल के चार राजा हुए जिन्होंने ईस्वी सन् पूर्व ६०८ वर्ष तक राज्य किया। पाँचवाँ राज्य कुल आन्ध्रों का का था। इनका राज्य ईस्वी सन् पूर्व ४५६ वर्ष तक रहा। प्रद्योत या प्रदिष्ट राज्य वंश स्थापित होने के पूर्व (ईस्वी सन् पूर्व २१००) बार्हद्रथ राज्य वंश मगध देश पर राज्य कर रहा था। इस वंश के सब से प्रथम राजा का नाम सोमपी और अन्तिम राजा का नाम रिपुञ्जय था। इस राज्यवंश ने १००० वर्ष तक राज्य किया, इस बृर्हद्रथ राज्य वंश के पहिले सहदेव, जरासंध और बृहद्रथ नाम के राजा हुए। केप्टन ट्रायसने ईस्वी सन् १८३१ के Asiatic Journal में एक लेख लिखकर यह सिद्ध करने की सफल चेष्टा की थी कि ईस्वी सन् के ३००० वर्ष पूर्व भारत में ऐसे अनेक महान राज्य थे, जो सभ्यता

और संस्कृति में बहुत आगे बढ़े हुए थे, और इस समय से भी पहिले रामायण के नायक राम हुए।

सर विलियम जॉन्स को काश्मीर में दविस्तान नामक एक ग्रन्थ में एक बेकृरियन लेख प्राप्त हुआ था। इस लेख को उक्त सर महोदय विलायत ले गये थे। इस लेख में अनेक बेकृरियन राजाओं की नामावली थी। इन राजाओं में से प्रथम राजा बेकृरिया सिकन्दर की चढ़ाई होने के लगभग ५६०० वर्ष के पहले राज्य करता था। यह राजा हिन्दू था। इन्हीं सब बातों को देखकर कौन्ट जानस्टर्जन अपनी (Theogony of the Hindus) नामक ग्रन्थ में यह लिखने को बाध्य हुए—"मध्य युगीन यूरोपीय ग्रन्थकारों ने जिस समय को मनुष्य—उत्पत्ति का युग माना है, उस समय में भारतीयों ने अपनी सभ्यता और संस्कृति को बहुत ही उच्च शिखर पर पहुँचा दिया था। मतलब यह कि काश्मीर के उक्त अति प्राचीन लेख दविस्तान से मालूम होता है कि ईस्वी सन् से ६००० वर्ष पूर्व भारतवर्ष सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इस समय भारतीय राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति का प्रताप सारे संसार पर छाया हुआ था। इतना ही नहीं, संसार के कई विभिन्न देशों पर भी भारतवासियों की राज्य पताका फहरा रही थी।

अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के अन्वेषण के बाद इसमें तनिक भी संदेह नहीं रहता कि संसार में सब से प्राचीन सभ्यता और संस्कृति भारतवासियों की है। संसार के सब प्राचीन राष्ट्रों ने इस पुण्य भूमि से सभ्यता और ज्ञान का प्रकाश ग्रहण किया था। भारतवासियों ने मिश्र, ग्रीस, ईरान, चीन, अमेरिका आदि देशों में अपने उपनिवेश बसाये थे, और उन्होंने वहाँ अपनी दिव्य सभ्यता और अलौकिक संस्कृति की विजय

पताका फहराई थी, इस बात को प्रायः सब ही विद्वानों ने स्वीकार किया है कि प्राचीन संसार के अनेक देश अपने ज्ञान और सभ्यता के लिए भारतवासियों के ऋणि हैं।

सुप्रख्यात फ्रेंच विद्वान् क्रोफ़र ने लिखा है—"अगर इस भूमण्डल पर ऐसा कोई महान देश है, जो मानव-जाति के आद्यस्थान और ज्ञानदाता होने का गौरव रखता है, तो वह देश निस्संदेह भारतवर्ष है।

कर्नल टॉड साहब अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "राजस्थान का इतिहास" में लिखते हैं कि—"हम उन ऋषियों को अन्यत्र कहाँ पा सकते हैं, जिनके दर्शन-शास्त्र ग्रीस के आदर्श थे, जिन के ग्रन्थों के प्लेटो, थैल्स और पाईथागोरस शिष्य थे। हम उन ज्योतिषियों को कहाँ पा सकते हैं, जिनका ग्रह-मण्डल सम्बन्धी ज्ञान अब भी यूरोप में आश्चर्य उत्पन्न करता है; हम उन कारीगरों और मूर्तिकारों को कहाँ पा सकते हैं जिनके कार्य्य हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। हम उन गायकों को कहाँ देख सकते हैं, जो मनुष्य को दुख से आनन्द में दौड़ा सकते हैं, और आँसुओं को मुसकराहट में बदल सकते हैं।" एक फ्रेन्च पण्डित ने कहा है—"तेजस्वी, सुसभ्य और जनसमूह परिप्लुत छः हजार वर्ष के भारतवर्ष ने मिश्र, ईरान, ग्रीस और रोम आदि देशों पर अपनी संस्कृति का जबरदस्त सिक्का जमाया था। मतलब यह है कि प्राचीन भारत संसार का प्रकाशदाता और सभ्यता तथा संस्कृति का आदि जनक था।

फिनस्टन साहब अपने इतिहास में लिखते हैं कि संसार में अब तक जो सब से प्राचीन सिक्के मिले हैं, वे भारतवासियों के थे। यह बात भी भारतीय सभ्यता की प्राचीनता को प्रकट करने वाली है।

दूसरा अध्याय।

प्राचीन भारतवासियों की राजनीति

कुछ वर्षों के पहिले पाश्चात्य विद्वानों का यह खयाल था कि प्राचीन भारतवासी राजनैतिक ज्ञान से शून्य थे। उनका सारा लक्ष्य, सारा ध्यान, केवल आध्यात्मिक विषय में लगा रहता था। उनका मन हमेशा आत्मा के गूढ़ाति गूढ़ तत्त्वों की खोज ही में प्रयत्नवान् बना रहता था। वे राजनीति जैसे सांसारिक विषयों की ओर बहुत ही कम ध्यान देते थे। इस प्रकार के विचार समय समय पर कई पाश्चात्य विद्वानों ने प्रकट किये हैं, पर जब से बंगलोर के पण्डित शाम-शास्त्री द्वारा कौटिल्य के अर्थशास्त्र का आविष्कार हुआ और जब से इस अमूल्य ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टि-गोचर हुआ; तब ही से पाश्चात्य-विद्वानों का वह भ्रम-पटल दूर हो गया, जो एक लम्बे समय से उनकी आंखों के आगे लगा हुआ था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को देख कर वे दङ्ग रह गये। वे आश्चर्य करने लगे कि दो ढ़ाई हजार वर्षों के पहिले भी भारतवासी राजनीति शास्त्र में इतने पारङ्गत थे। बस, कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशन के बाद ही भारत के राजनैतिक-साहित्य की खोज का सूत्रपात हुआ। तब ही से भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में अंग्रेजी भाषा में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। अधिक खोज से विद्वानों को यह भी प्रतीत हुआ कि भारतीय-साहित्य में न

केवल कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही, पर महाभारत, बार्हस्पत्य-सूत्र, कामन्दकीय नीति, शुक्रनीति, मनुस्मृति, नीतिवाक्यामृत, आदि अनेक ग्रंथ हैं, जिनमें राजनीति के सिद्धान्तों का विशेष विवेचन है। हम यहां इन्हीं ग्रन्थों के आधार से भारतीय राजनीति विज्ञान पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राजनीति शास्त्र से उस शास्त्र की कल्पना होती है, जो राज्य की उत्पत्ति, शासन, गुण, कर्म, और धर्म का विवेचन करता है। अब सब से पहिले हमें यह देखना चाहिये कि भारतीय राजनीति में राज्य की उत्पत्ति, उसकी आवश्यकता, उसके गुण, कर्म, और धर्म के विषय में क्या विवेचन है।

राज्य उत्पत्ति-तत्त्व

भारतवासियों के सुप्राचीन ग्रन्थ अथर्ववेद में लिखा है:-

"विराड् वा इदमग्र आसीत, तस्यां जाताया सर्वम् बिभेद्य मे वदं भविष्यति।"

इस मन्त्र का आशय यह है कि प्रारम्भ में इस पृथ्वी पर का समाज विराड् था, अर्थात् बिना राजा के था। इसे (राज्य-विहीन राष्ट्र या समाज) उत्पन्न हुआ देख कर सब लोग भयभीत हुए। इसी प्रकार का उल्लेख महाभारत में भी आया है:—

> नियतस्त्वं नर व्याघ्र शृणु सर्वम शेषतः।
> यथा राज्यं समुत्पन्न मादो कृतयुगेऽभवत्॥
> नैवं राज्यं समुत्पन्न मादौ कृतयुग भवत्।
> नैवं राज्यं न राजाऽऽसीन्नच दंडो न दंडिका॥

अर्थात्—"हे नरव्याघ्र! वह सब सुनो, जिस प्रकार कि

सतयुग के प्रारम्भ में राज्य उत्पन्न हुआ। पहले न राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला ही। धर्म से प्रजा परस्पर की रक्षा करती थी।" राज्य उत्पत्ति के सम्बन्ध में इसी तरह के भाव अन्य ग्रन्थों में भी आये हैं। मतलब यह है कि समाज की नितान्त प्रारम्भ अवस्था में राज्य था भी नहीं और उसकी उतनी आवश्यकता भी नहीं थी। पर जैसे जैसे समाज बढ़ता गया, वैसे वैसे उसे राज्य और राजा की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। क्योंकि पारस्परिक व्यवहारों को संयमित करने के लिये-बलवानों के अत्याचारों से निर्बलों की रक्षा करने के लिये किसी शासन सत्ता की आवश्यकता होती है। बस इसी शासन सत्ता के रूप में राज्य और राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महाभारत के शान्ति पर्व के ६७वें अध्याय में कहा है कि-"पहले राजा के न रहने से बली निर्बलों को जल की मछलियों की नाईं खाने लगे। तब सब लोगों ने मिल कर नियम किया कि जो कोई किसी से कटु भाषण करेगा, उसे मारेगा, अथवा किसी की स्त्री या द्रव्य हरण करेगा उसे हम त्याग देंगे। यह नियम सब लोगों के लिये एक सा है। परन्तु जब इसका परिपालन न हुआ, तब सारी प्रजा ब्रह्मा के पास गई और कहने लगी कि हमारा प्रतिपालन करने वाला कोई अधिपति दो। तब ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी। उस समय मनु ने कहा-मैं पाप कर्म से डरता हूँ। असत्-मार्ग से चलने वाले मनुष्यों पर राज्य करना पाप है। तब लोगों ने कहा—"राष्ट्र में जो पाप होगा वह कर्त्ता को लगेगा। तू मत डर। तुझे हम पशुओं का पचासवाँ हिस्सा और अनाज का दशमांश देंगे। शस्त्र अस्त्र और वाहन लेकर हमारे मुखिया लोग तेरी रक्षा के लिये साथ रहेंगे। तू सुख तथा आनंद से

राज्य कर। हम धर्माचरण का चौथा हिस्सा भी तुझे देंगे। इसको स्वीकार कर मनु राज्य करने लगा। अधर्मी लोगों और शत्रुओं को दण्ड देकर धर्म के समान उसने राज्य किया।"

एक दूसरे स्थान पर महाभारत में कहा है कि अगर राज्य न होगा तो मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति बढ़ जायगी। अर्थात् एक दूसरे को मछलियों की नाईं खाने लगेंगे। मनुस्मृति में भी स्पष्ट कहा है कि राज्य के अभाव में बलवान निर्बलों को मछलियों की तरह खाने लगेंगे। मत्स्यपुराण में कहा है कि राजा के अभाव में बच्चे, बीमार, साधु, बुड्ढे और स्त्रियां मत्स्यन्याय के अनुसार बलवान् और अत्याचारी लोगों की शिकार बनेंगे। रामायण में भी कहा है कि अराजकता में मत्स्यन्याय के अनुसार एक दूसरे को खाने लगेंगे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी हम यही भाव देखते हैं। उसमें लिखा है कि अराजकता में मत्स्यन्याय की प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। अर्थात् लोग एक दूसरे को मछलियों की तरह खाने लगते हैं। बंगाल सम्राट् धर्मपाल ने एक घोषणा पत्र निकाल कर प्रकाशित किया था। उसमें उसने अपने राज्यवंश की उत्पत्ति का हाल लिखते हुए कहा था कि—"मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति से बचने के लिये लोगों ने मेरे पिता से राज्य-सत्ता स्वीकार करने के लिये अनुरोध किया"। हम देखते हैं कि राज्य-उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विचार हमारे ऋषियों ने प्रकट किये थे, वे ही सुप्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ मिल ने भी अपने सुप्रसिद्ध Liberty नामक ग्रन्थ में किये हैं।

उसने लिखा है कि समाज के निर्बल व्यक्तियों को बलवान् अत्याचारियों से बचाने के लिये राज्य की जरूरत पहले पहल प्रतीत हुई।

मतलब यह है कि हमारे आर्य्य ऋषियों ने मनुष्य प्रकृति का–उसमें रहने वाली विविध निर्बलताओं का–अत्यन्त सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। उन्होंने जो कुछ कहा मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर कहा है। वे यह जानते थे कि जहां मनुष्यों में दया, उदारता, सहानुभूति के उदार भाव हैं; वहां काम, क्रोध, मान, माया, लोभ भी हैं। संसार जब तक संसार रहेगा—जब तक वह विविध मानवी-प्रकृति का क्रीड़ा-स्थल रहेगा—तब तक यह असम्भव है कि वह बिना किसी शासनसत्ता के सुखपूर्वक रह सके। महामति टॉल्स-टॉय, लेनिन आदि कितने ही उच्च विचारकों का कथन है कि समाज में राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं। टॉल्सटॉय तो कहते हैं कि समाज की आदर्श अवस्था में लोग परस्पर सद्भावनाओं से व्यवहार करने लगेंगे तब राज्य की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। बोलशेविस्ट नेता लेनिन मनुष्य समाज से स्वामित्त्व की भावनाओं ही को नष्ट करना चाहते हैं, जिससे अंत में जाकर मनुष्य समाज को राज्य की कोई आवश्यकता ही प्रतीत न हो। पर इन दोनों महान् विचारकों पर अत्यन्त पूज्य भाव रखते हुए भी हम अत्यन्त नम्रता के साथ यह निवेदन करेंगे कि इन महानुभावों के ये सिद्धान्त मानवीय प्रकृति की विविधता और उसके सूक्ष्म अध्ययन पर निर्भर नहीं करते। हमारे ऋषियों ने जो कुछ कहा है वह मानवी प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन और विश्लेषण कर के कहा है। हम मानते हैं कि दिव्य-साधनों के अवलम्बन से—मनुष्य समाज में सद् शिक्षा और सद्भावनाओं के प्रचार से—सभ्यता का बहुत कुछ विकास किया जा सकता है, धर्म्म की उन्नति की जा सकती है, सत्युग का प्रवर्त्तन हो सकता

है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि सत्य युग में—धर्मयुग में—सब के सब ही मनुष्य धर्मात्मा और एक दूसरे के स्वत्वों की रक्षा करने वाले हो जावेंगे। उस समय भी ऐसे व्यक्ति रहेंगे, जो स्वभाव से ही कामी, क्रोधी एवं लोभी होंगे। वे दूसरों की जायदाद और स्त्रियों पर अवश्य ही नज़र डालते रहेंगे। ऐसी दशा में भी राज्य की आवश्यकता होगी। हां, यह बात अवश्य है कि जिस समय मनुष्य समाज में सद्भावनाओं का विकास होता है, उस समय राज्य-शासन की कम आवश्यकता होती है, पर फिर भी किसी न किसी रूप में यह आवश्यकता रहती ही है। इसी लिये हमारे ऋषियों ने अराजकता की स्थिति को हानिकारक कहा है और यह स्पष्ट सूचना की है कि अराजकता मानवी सभ्यता और संस्कृति की शत्रु है। उन्होंने मानवी समाज के हित को ध्यान में रख कर राज्य की आवश्यकता समझी। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें मनुष्य प्रकृति के अध्ययन का सूक्ष्म तत्त्व छिपा हुआ है।

प्राचीन भारतीयों का दण्ड-विधान

हम राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊपर बहुत कुछ कह चुके हैं। हमने कई आर्य ग्रन्थों का प्रमाण देकर यह दिखलाया है कि मनुष्य समाज को राज्य की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? हमने यह प्रकट किया है कि मनुष्य समाज में ममत्त्व (अपनापन) और स्वत्त्व या स्वामित्त्व की भावनाओं के आविर्भाव के साथ साथ शासनसत्ता की कल्पना का भी आविर्भाव हुआ। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि मनुष्य समाज में जब ज़ायदाद (Property) की

कल्पना का आविर्भाव होने लगा, तब ही उसे राज्य की, शासनसत्ता की, आवश्यकता प्रतीत होने लगी। तब ही से मनुष्य समाज को किसी धर्मबन्धन से बांधने की कल्पना का सूत्रपात होने लगा। अब हमें उस सिद्धान्त पर विचार करना है जो राज्यसत्ता का मूलाधार है। वह है शासन सिद्धान्त। हमारे ऋषियों ने उसे दण्ड सिद्धान्त कहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दण्ड (शासन) राज्य का का जीवन है—प्राण है। जहां दण्ड नहीं, वहां राज्य नहीं। जहां दण्ड का अभाव है, वहां मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति अर्थात् एक दूसरे को खाजाने की प्रवृत्ति का दौर दौरा रहता है। यह भी स्पष्ट है कि जहां दण्ड नहीं है, वहां जायदाद और धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। इन दोनों की रक्षा वहीं हो सकती है, जहां राज्य है, जहां दण्ड है। एक विद्वान् ने निम्नाङ्कित सूत्र कथित किये हैं :—

(१) जहां दण्ड नहीं, वहां राज्य नहीं (२) जहां राज्य नहीं, वहां धर्म नहीं, (३) जहां राज्य नहीं, वहां जायदाद नहीं।

हमने जहां तक विचार किया है, हमें प्रतीत हुआ है कि राज्य-सम्बन्धी सब कल्पनाओं का आधार मानसशास्त्र (Psychology) पर निर्भर करता है। मनुष्य प्रकृति में—जैसा हम गत किसी अध्याय में कह चुके हैं—कुछ न कुछ दोष और निर्बलता अवश्य रहती है। हमारा यह खयाल है कि अनंत काल के संस्कारों की वजह से मनुष्य का मन सद्गुणों और दुर्गुणों की गठरी सा हो गया है, अतएव उन दुर्गुणों से मनुष्य समाज के पारस्परिक व्यवहारों को बचाने के लिये राज्यसत्ता की, शासनसत्ता की, शासन या दण्ड की आवश्यकता हुई। हम देखते हैं कि कुछ विदेशी दार्शनिक विद्वानों

ने भी थोड़े से मतभेद के साथ उपरोक्त कल्पना ही को पुष्ट किया है। प्राचीन चीन में सन्झे ने (Hsun Tnzo) (ईस्वी सन् पूर्व ३०५ से २३५) मैन्सियस नामक दार्शनिक विद्वान के इस कथन का खण्डन किया है कि मनुष्य स्वभाव ही से दुष्ट होता है। उसकी भलाई शिक्षा और संस्कृति (Culture) का परिणाम है। मनुष्य को सत्पथ पर चलाने के लिये शिक्षा, शासन और शिस्त (Disipline) की आवश्यकता है। प्राचीन शासकों ने मनुष्य की स्वाभाविक दृढ़ प्रवृत्तियों को समझ लिया था, अतएव उन्होंने उनकी (मनुष्यों की) प्रवृत्तियों को बदलने के लिये नीति-नियम और क़ानून की सृष्टि की। सुप्रख्यात रोमन दार्शनिक सिनेका ने कहा था—"राज्य संस्था तथा इसी प्रकार की अन्य सामाजिक संस्थाओं का आविर्भाव, मनुष्य प्रकृति की भ्रष्टता (Consuption of Human-nature) पर अवलम्बित है। प्राचीन काल के ईसाई दार्शनिकों ने भी इसी प्रकार के विचार प्रदर्शित किये हैं। सेन्ट इरेनियस ने, जो ईसा की दूसरी सदी में हुआ, अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं। "जब मनुष्य ईश्वर से विमुख होने लगे और अपने बंधु मनुष्यों से द्वेष करने लगे तब चारों ओर गड़बड़ और अव्यवस्था फैल गई। उस समय ईश्वर ने इसी लिये राजा की सृष्टि पैदा की, कि वह सब मनुष्यों को सत्पथ पर चलने के लिये बाध्य करे। सेन्ट अगस्टाईन ने भी कहा है "पाप प्रवृत्ति के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई।"

इस सम्बन्ध में सुप्रख्यात हिन्दू नीतिकार कामन्दक का मत महत्त्व पूर्ण है। उनका कथन है मनुष्य स्वभाव ही से विषयों के शिकार बन जाते हैं। वे दूसरों की स्त्रियों और धन पर ताकने लगते हैं। बस इन्हीं बातों को रोकने के लिये

राज्य की ज़रूरत है। महाराज मनु ने भी कहा है:—शुद्ध और पाप रहित मनुष्य दुर्लभ है। साधारण मनुष्य दूसरों के अधिकारों पर हस्तक्षेप करने में अभ्यस्त रहते हैं। महाभारत में कहा है कि अगर सब मनुष्य बिना शासन के स्वतंत्र छोड़ दिये जावें तो इस संसार में हत्या, पर-स्त्री-हरण, मारकाट आदि के नारकीय दृश्यों की विपुलता हो जायगी। मतलब यह है कि मानवी व्यवहारों को सुसञ्चालित करने के लिये-समाज में सुव्यवस्था और सुश्रृंखला उत्पन्न करने के लिये शासन और दण्ड की आवश्यकता भारतीय ऋषियों ने समझी है।

दण्ड का स्वरूप

महाभारत के शान्ति पर्व के १२१ वें १२२ वें अध्याय में युधिष्ठिर ने भीष्म जी से प्रश्न किया है कि "दण्ड" कैसा होता है? उसका स्वरूप कैसा है? उसका आधार कौन सा है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए भीष्म ने दण्ड का वर्णन किया है। उसका आशय इस प्रकार है—"दण्ड" को प्रजापति ने प्रजा के संरक्षण के लिये उत्पन्न किया है। यदि इस दण्ड का सभ्यता के साथ उचित उपयोग किया जावे तो धर्म, अर्थ और काम की प्रवृत्ति होती है। इसका उपयोग सद् बुद्धि से राग द्वेष को त्याग कर किया जाना चाहिये। ब्रह्मा ने उसे राजा को दिया है। राजा को उचित है कि वह उसका मनमाना उपयोग न करे। ब्रह्मा ने जिस दण्डनीति का वर्णन किया है, उसके अनुसार उसका उपयोग करे। महाराज मनु ने भी अपनी स्मृति में इस दण्ड का विशद विवेचन किया है, वह इस प्रकार है।

प्रजापति ने सब प्राणियों की रक्षा करने वाले ब्रह्मतेजोमय

धर्म रूप तथा अपने पुत्र रूप दण्ड को उत्पन्न किया है। दण्ड के भय से सब चराचर प्राणी अपने ऐश्वर्य्य को भोग सकते हैं और धर्म-भ्रष्ट भी नहीं होते हैं। राजा देश, काल, शक्ति और विद्या को ठीक ठीक देखकर अन्याय करने वालों पर उनके अपराधानुसार दण्ड का विधान करे। वह दण्ड ही राजा है, पुरुष है, वही राज्य का नियामक है। तथा चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिनिधि है। "दण्ड" सब प्रजाओं का शासनकर्ता है। वही सब की रक्षा करता है सब के सो जाने पर वही जगता रहता है। धर्माचार्य्यों ने दण्ड ही को धर्माचरण का कारण माना है।

राजा भी दण्ड के अधीन है

हमने महाभारत के प्रमाण पर ऊपर कहा है कि "दण्ड" का अधिकार ब्रह्मा ने राजा को दिया है। पर इसका यह मतलब यह नहीं है कि राजा दण्ड के अधीन नहीं है। मनुजी ने दण्ड का दर्जा राजा से भी ऊँचा माना है। उन्होंने तथा कामन्दक प्रभृति अन्य नीतिकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा भी अन्य व्यक्ति की तरह दण्ड के अधीन है। यद्यपि राजा को दण्डधर कहा गया है, पर अगर वह खुद भी अपराध करे तो हिन्दू शास्त्रों के अनुसार वह इसका शिकार हुए सिवा नहीं रह सकता।

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार "दण्ड" मनुष्यों के लिये भय है। वह सामाजिक बुराइयों को सुधारने वाला है। कामन्दक का कथन है कि इससे देश मत्स्य-न्याय की प्रवृत्ति से तथा नाश से बच सकता है। यही मनुष्यों को ठीक रास्ते पर चलाने का साधन है, शुक्रनीति के अनुसार मनुष्य भय ही से

सत्पथगामी होता है, तथा वह अत्याचार करने से बचता है। "दण्ड" का भय ही क्रूर मनुष्यों को सौम्य बनने में बाध्य करता है। यही दुष्टों से दुष्टता छुड़ाता है। यही पशुओं को वश में करता है तथा चोरों को डराता है। यह नागरिक जीवन की मूल माया है। दण्ड के उचित और बुद्धिमत्ता पूर्वक प्रयोग के बिना, राज्य शासन के सब साधन व्यर्थ हैं।

दण्ड का दुरुपयोग पाप है

यहाँ यह बात खूब ध्यान में रखना चाहिये कि हमने ऊपर जो कुछ कहा है वह 'दण्ड' के सदुपयोग के लिये कहा है। जहाँ दण्ड का सदुपयोग मानव समाज की सुव्यवस्था और सुख का कारण है, वहाँ इसका दुरुपयोग भयङ्कर नाश का कारण हो सकता है। इसी से हिन्दू नीतिकारों ने इसके उपयोग में अत्यन्त सावधानी रखने के लिये राजाओं को सचेत किया है। मनुजी ने कहा है कि जो राजा इसका ठीक ठीक उपयोग करता है, वह धर्म, अर्थ और काम से वृद्धि पाता है और जो राजा इसके विपरीत करता है, वह स्वयं दण्ड ही से नष्ट हो जाता है। कामन्दक ने भी कहा है—दण्ड का दुरुपयोग राजा के पतन का कारण होता है। और भी कितने ही हिन्दू शास्त्रकारों ने ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं।

राज्य और स्वामित्त्व

प्रोफेसर विनय कुमार सरकार ने Political Theories and institutions of ancient Hindus नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार राज्य और स्वामित्त्व (Ownership) की कल्पना में घनिष्ट सम्बन्ध है। आप का कथन है कि

राज्य के अस्तित्व के साथ साथ स्वामित्त्र की भावना का भी विकास होने लगा। क्योंकि जहां राज्य है, शासन है, दण्ड का भय है, वहीं स्वामित्व भी है। जहाँ अराजकता है, मत्स्यन्याय की प्रवृत्ति है वहाँ स्वामित्व को भी स्थिरता नहीं हो सकती? क्योंकि अगर लोग बिना किसी शासनसत्ता के अपनी मर्जी पर स्वतंत्र छोड़ दिये जावें तो लूट मार का नारकीय दृश्य उपस्थित हो जायगा और चारों ओर अव्यवस्था तथा अराजकता (Anarchy) का साम्राज्य फैल जायगा। उस स्थिति में "स्वामित्व" रह ही नहीं सकता। अतएव हिन्दू शास्त्रकारों का यह कथन सर्वांश में सत्य है कि राज्य के अस्तित्व के साथ ही स्वामित्व का भी अस्तित्व है। जहाँ राज्य नहीं वहाँ स्वमित्व भी नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानवी सभ्यता और संस्कृति के विकास में स्वामित्व की कल्पना ने बड़ी सहायता पहुँचाई है।

कौन राजा "दण्ड" प्रयोग करने का अधिकारी है?

पहले कहा गया है कि प्रजा पति ने राजा को दण्ड प्रयोग करने का अधिकार दिया है। पर, इससे पाठक यह न समझ लेवें कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार यह अधिकार न्यायतः सब ही राजाओं को प्राप्त हो सकता है। मनुजी ने इसका स्पष्टीकरण किया है। सत्यवादी, विचारपूर्ण कार्य करने वाला, बुद्धिमान तथा धर्म, काम और अर्थ में प्रवीण राजा ही "दण्ड" प्रयोग करने का अधिकारी है। इसके विपरीत आचरण करने वाले, कामी, विषमदृष्टि, और लोभी राजा को इसका अधिकार नहीं है। आगे चल कर मनुजी कहते हैं—दण्ड निःसंदेह बड़ा भारी तेज है। जिन्होंने अपने मन का, शास्त्र

से संस्कार नहीं किया है, वह उसे धारण नहीं कर सकते। धर्म से विचलित राजा को यह कुटुम्ब सहित नष्ट कर देता है। × × × × × मंत्री, पुरोहितादि की सहायता से भी मूर्ख, लोभी, शास्त्र-ज्ञान हीन और विषयों में आसक्त राजा न्यायपूर्वक दण्ड का विधान नहीं कर सकता। उपरोक्त वाक्यों से पाठक समझ गये होंगे कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार कौन राजा "दण्ड" रूपी दिव्य शास्त्र के धारण करने का अधिकारी है। वही राजा इसे धारण कर सकता है, जो इसका अत्यन्त बुद्धिमता के साथ सदुपयोग करना जानता है।

जो मनुष्य सांसारिक प्राणी है, उसमें किसी न किसी रूप में "स्वामित्व" की भावना रहती है। भगवान् बुद्धदेव एवं भगवान् महावीर जैसी उच्च आत्माओं के लिये "स्वामित्व" की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ऐसी आत्माएँ सांसारिक व्यवहारों के क्षुद्र क्षेत्र से अत्यन्त उच्च आत्मिक क्षेत्र में रमण करती रहती हैं।

राज्य और धर्म

प्रोफ़ेसर विनय कुमार सरकार का कथन है कि स्वामित्व की तरह राज्य और धर्म्म का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। इन दोनों (स्वामित्व और धर्म्म) की स्थिरता दण्ड पर अवलम्बित है; क्योंकि शासन और दण्ड के बिना धर्म्म भी नहीं रह सकता। अराजकता (Non-State) में—मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति में—धर्म्म का पालन नहीं हो सकता। जब तक शासन सत्ता का—दण्ड का—अस्तित्व रहता है, तभी तक धर्म्म फलता फूलता रहता है। राज्य का, शासन सत्ता का अथवा दण्ड का नाश होते ही धर्म्म भी पलायमान हो जाता है। हमारे हिन्दू शास्त्रों

में तथा मानवी इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मौजूद हैं। यहाँ धर्म से हमारा मतलब मतमतान्तरों तथा विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से नहीं है। पर नीति नियम, (कानून) न्याय और स्वकर्तव्य से है। समाज में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित करने के लिये उक्त तीनों धार्मिक तत्वों की कितनी बड़ी आवश्यकता है, इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। अब हम इन तीनों ही का अलग अलग विवेचन करते हैं।

नीति नियम और कानून

हमारे ऋषियों ने समाज की व्यवस्था को लक्ष्य में रख कर कई प्रकार के नीति नियमों की (कानून) सृष्टि की। जुदे जुदे समय में परिस्थिति के परिवर्तन के साथ साथ इन नीति-नियमों में भी परिवर्तन होता गया। मनुस्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पति सूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रन्थ इन्हीं नीति नियमों के संग्रह है। इन विभिन्न स्मृतियों में विभिन्न परिस्थिति के अनुसार आपको अन्तर दिखाई देगा। ये नीति नियम एक प्रकार के धार्मिक, एवं नैतिक बन्धन हैं, जो लोगों की स्वेच्छाचरिता को संयमित करते हैं, पर इनका पालन तब ही हो सकता है, जब इनके पीछे किसी प्रकार की सत्ता, शासन या दण्ड की शक्ति हो। मतलब यह है कि नीति-नियम, बिना सत्ता के अमल में नहीं आ सकते और बिना नीति-नियमों के राज्य कार्य्य नहीं चल सकता। इन दोनों का एक दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है।

भारतीय शास्त्रों में इन नीति नियमों का, (कानून) बहुत ऊँचा दर्जा माना गया है। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है कि "कानून" उतना ही शक्ति शाली हैं, जितना कि राजा यह

ब्रह्मा की उपज है। इससे ऊँचा संसार में कोई पदार्थ नहीं है। कानून ही सत्य है। जब मनुष्य सत्य बोलता है, तब वह कानून ही को प्रकट करता है। सुप्रसिद्ध स्मृतिकार आपस्तंब ने कहा है—"वही कानून श्रेष्ठ है जो सब देशों के उन आर्य्य लोगों के द्वारा स्वीकृत हो चुका है, जो अपने गुरुओं के आज्ञाकारी रहे हों, जो वृद्ध और इन्द्रजीत हों, जो विषयलम्पट और धोकेबाज न हों। मनुस्मृति में कहा है कि उन धर्मात्मा और विद्वान् लोगों का आचरण, जो पक्षपात और विषय लम्पटता से दूर हो, कानून है। वशिष्ठ और बौद्धायन ने कहा है कि सदाचार ही कानून है। व्यवहार दर्पण नामक ग्रन्थ में कहा है कि कानून राजाओं का राजा है। यहाँ यह भी बात ध्यान में रखना चाहिये कि भारतवर्ष में राजाओं को कानून बनाने का अधिकार नहीं रहता था। कानून ऋषि महात्मा बनाते थे और राजाओं को उनपर अमल करना पड़ता था। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन ऋषियों का संसार के साथ, उसके किसी दल विशेष के साथ कोई सरोकार नहीं रहता था। अतएव आज कल की तरह किसी दल विशेष के हित के लिये, दूसरों के न्यायोचित अधिकारों पर, इनके बनाये हुए कानून द्वारा आघात नहीं होता था। हाँ, पीछे जाकर इस पद्धति में बहुत कुछ भ्रष्टता आ गई, और स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिये कई ऐसे कानून बना डाले, जिन्होंने भारत के पतन में बड़ी सहायता पहुँचाई। इन्होंने अपने स्वार्थानुसार पहले की स्मृतियों में भी कई भ्रष्ट क्षेपक मिला दिये।

न्याय

राज्य के सिद्धान्त के साथ न्याय का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि न्यायतत्व राज्य

की आत्मा है। जिस राज्य से न्याय का पवित्र तत्व उठ गया हो उसे राज्य कहना भयङ्कर भूल करना है। न्यायहीन राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। प्रकृति के अनुसार वह दीर्घ काल तक स्थिर नहीं रह सकता। इतिहास से पता चलता है कि जिन राज्यों ने मान, माया, और लोभ में अन्धे होकर इस पवित्र तत्व को तिलाञ्जली दी, उनका शीघ्र ही नाश हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। हमारे ऋषियों ने राज्य के अस्तित्व के लिये न्याय को प्रधान स्तम्भ माना है। मनुस्मृति में कहा है:—जिस राज्य में न्याय का भङ्ग किया जाता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जिसमें न्याय की रक्षा की जाती है, वह बना रहता है।

कर्त्तव्य

जब देश में मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति रहती है, जब मनुष्यों में अराजकता का साम्राज्य रहता है,—तब संसार में एक तरह से कर्त्तव्य का भी अभाव रहता है। दण्ड और शासन के भय से, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, मानव समाज में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित होती है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि सुव्यवस्थित और सुशासित समाज ही में मनुष्य अपने स्वधर्म का, कर्तव्य का, भली प्रकार पालन कर सकता है। अतएव इससे यह स्पष्ट है कि स्वामित्व और न्याय की तरह कर्त्तव्य का भी राज्य के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है और राज्य (State) के साथ ही कर्त्तव्य का अस्तित्व रहता है

मतलब यह है कि राज्य की उत्पत्ति समाज में सुव्यवस्था, और सुश्रृंखला उत्पन्न करने के लिये हुई है। संसार में

स्वामित्व, (ownership) जायदाद, (Property) न्याय और कर्त्तव्य का राज्य सत्ता के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है।

राज्य के भिन्न भिन्न रूप

एक तन्त्रीय राज सत्ता (Monarchy)

प्राचीन भारतवर्ष में भी आधुनिक सभ्य संसार की तरह कई प्रकार की शासन प्रणालियाँ रही हैं। उन सबका विवेचन यथा क्रम किया जायगा। इस अध्याय में केवल प्राचीन भारतवर्ष की राजनीति (Politics) पर कुछ विचार किया जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से अन्य शासन प्रणालियों के साथ साथ राजतन्त्र शासन प्रणाली का भी अस्तित्व रहा है, ऋग्वेद कई पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार संसार का सब से प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें राजन्य शब्द बारम्बार आया है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के काल में भारतवर्ष में राजा का अवश्य ही अस्तित्व था। अब यह देखना है कि उस समय राजा लोग केवल राज कुल में जन्म ले लेने ही से राज पद के अधिकारी हो जाते थे या वे लोगों के द्वारा चुने जाते थे। प्रोफेसर झिमर (Zimmer) महोदय का कथन है कि कहीं कहीं और कभी कभी तो राजा पुस्तैनी (Heriditary) होते थे और कहीं कहीं वे लोगों के द्वारा चुने जाते थे। ऋग्वेद यजुर्वेद, अथर्ववेद में राजाओं के चुने जाने के अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। यथाः—

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परे हि संहयज्ञास्था वरुणै संविदान,
सत्वायमहवत स्वेस्धस्थे सदेवान् यक्षत् सकल्पयाद्विशः॥

अर्थात् हे राजन! जनता के सामने आइये। आप अपने निर्वाचन करने वालों के अनुकूल हैं। इस पुरुष ने आप को

आपके योग्य स्थान पर यह कह कर बुलाया है कि इसे देश की स्तुति करने दो, और जाति को सुमार्ग पर चलने दो। फिर देखिये।

त्वां विशो वृणुता राज्याय त्वामिभाः प्रदिशः पञ्चदेवीः
वर्ष्मन राष्ट्रस्य ककुदी श्रयस्व ततोन उग्रो विभजा वसुनी॥

इसका आशय यह है कि हे राजा ! राज्य कार्य्य चलाने के लिए प्रजा तुझे निर्वाचित करे। इन पांचों प्रकाश युक्त दिशाओं में प्रजा तुझे निर्वाचित करें। इस प्रकार के बीसों मन्त्र वेदों में आये हैं, जिनमें प्रजा द्वारा राजाओं के चुने जाने का उल्लेख है। यहाँ यह बात अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिये कि हजारों वर्षों के पहिले भी प्रजा द्वारा राजाओं को चुने जाने की प्रथा मौजूद थी। इसके अतिरिक्त वेदों में इस बात के भी उल्लेख आये हैं कि अगर राजा, अयोग्य, मूर्ख, व्यभिचारी एवं अत्याचारी हो, तो उसे हटा कर उसके स्थान में दूसरे सुयोग्य-मनुष्य को राजगद्दी पर बैठा दिया जाता था। मतलब यह है कि वैदिक काल में प्रजा द्वारा राजा के चुने जाने की प्रथा का अस्तित्व था।

इसके बाद महाभारत काल में भी हमें इस प्रथा का अस्तित्व मिलता है। महाभारत के उद्योग पर्व में लिखा है कि कुरु लोगों द्वारा राजा चुना गया। क्योंकि वह धर्मात्मा था। महाभारत में इसी प्रकार का एक दूसरा उल्लेख भी है। वह यह है कि लोगों ने देवापि को राज्य सिंहासन पर बैठने से रोका, क्योंकी उसे कुष्ठ रोग था। उसके स्थान पर शान्तनु को बिठाया। कहीं कहीं पुश्तैनी राजाओं को भी गद्दीनसीन होते समय प्रजा की अनुमति लेना पड़ती थी। ययाति ने अपने बड़े पुत्र यदु को राजगद्दी पर बिठाना चाहा था, पर लोगों के

विरोध के कारण वह ऐसा न कर सका। अतएव वे अपने पुत्र के बजाय अपने भतीजे को युवराज बनाने के लिये बाध्य हुए। रामायण में भी कई प्रकार के ऐसे उल्लेख हैं। महाराज दशरथ ने जब रामचन्द्र को राज्य सिंहासन देना चाहा था, उस वक्त उन्होंने लोक सभा करके उसकी अनुमति ग्रहण की थी। अब ऐतिहासिक काल की बात लीजिए।

ई० सन् के १२५ वर्ष पहिले राज्य पद के लिए रुद्रदमन का चुनाव लोगों ही के द्वारा हुआ था। ई० ७३० में लोगों ही ने एक सिपाही के लड़के गोपाल से राज्य सिंहासन स्वीकार करने के लिये अनुरोध किया था। वही गोपाल बङ्गाल के पाल साम्राज्य का उत्पादक हुआ। ई० सन् ६०६ ई० में हर्षवर्द्धन लोगों ही के चुनाव द्वारा सम्राट् के आसन पर विराजमान हुआ था। इस चुनाव को लोगों ने प्रशंसा सूचक गीतों के द्वारा पसंद किया था। इस तरह के और कई भी उदाहरण हैं, जिनका उल्लेख स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सकता।

लोगों के आधीन राजा।

ऊपर हमने यह दिखलाया है कि किस प्रकार राजा, लोगों के द्वारा चुने जाते थे। अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि प्राचीन काल में लोगों का राजाओं पर कितना जबरदस्त अधिकार था। हम देखते हैं कि कितने ही राजा निर्बल और अत्याचारी होने के कारण प्रजा के द्वारा राज-च्युत किये गये थे। ईस्वी सन् के पूर्व १८१ वर्ष में अन्तिम मौर्य्य सम्राट दुर्बल होने के कारण लोगों के द्वारा राज्य भ्रष्ट कर दिया गया था।

ईस्वी सन् ६०२ में लोगों ने नागादस्क नामक एक पापी राजा को राज्यच्युत कर शिशुनाग वंश के एक मनुष्य को राज्य सिंहासन पर बिठाया। महाभारत में राजा वेण की कथा सुप्रसिद्ध है। पापी, क्रोधी व अत्याचारी होने के कारण वह भी राजा सिंहासन से च्युत कर दिया गया था। ब्राह्मण संहिताओं में कई ऐसे राजाओं का उल्लेख है जो राजच्युत किये गये थे। इन राजच्युत राजाओं को अपरुद्धा नाम से सम्बोधित किया गया है।

राजसत्ता पर नियंत्रण

हम ऊपर लोगों द्वारा राजा के चुने जाने के तथा उनके पदच्युत किये जाने के कुछ उदाहरण दे चुके हैं। अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि प्राचीन भारतवर्ष में राज-सत्ता किस प्रकार लोगों के द्वारा नियन्त्रित की जाती थी। लोगों की रक्षा के लिए जो नियम ब्रह्मा ने बना दिए थे, उनका उल्लंघन करने का राजा को भी अधिकार न था। उन्हें घटाने या बढ़ाने का भी अधिकार राजा को न था। जिस प्रकार राजा के अधिकार परमेश्वर से प्राप्त थे, उसी प्रकार राज्य शासन के नियम भी परमेश्वर से निर्मित होकर प्राप्त हुए थे। अतएव उनका अनादर करने का, उन्हें बदलने का या नये नियमों को जारी करने का अधिकार राजा लोगों का न था। प्राचीन आर्य्य तत्ववेत्ताओं ने राजा के अनियन्त्रित अधिकार या राजसत्ता को इस रीति से नियन्त्रित कर देने की व्यवस्था की थी।

प्राचीन तथा अर्वाचीन अथवा प्राच्य तथा पाश्चात्य राजसत्ता सम्बन्धी कल्पना में जो यह महत्व का भेद है, उस पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। राजकीय सत्ता का स्थान चाहे

राजा रहे, चाहे प्रजा-सत्ताक राज्य की कोई लोकनियुक्त राज-सभा रहे, पाश्चात्य तत्वज्ञानियों की यह कथन है कि सब नियम या कानून उसी केन्द्रस्थान से बनते हैं। अर्थात् कानून का जो बन्धन है, वह राज-सत्ता की आज्ञा से प्राप्त हुआ है। इस रीति से देखा जाय तो पाश्चात्य देशों में राजा या राजकीय संस्थाओं का मुख्य कर्त्तव्य यही होता है, कि राजा प्रजा के व्यवहार के लिये समय समय पर कानून बनावें। राजा के अनेक अधिकारों में से बड़े महत्व का एक अधिकार यह है कि राजा नया कानून बना सकता है, जिससे स्वेच्छाचारी राजागण समय समय पर ज़ुल्म से कानून बना कर लोगों को उनके द्वारा सता सकते हैं।

हिन्दुस्तान के आर्य्यों की विचार पद्धति इससे भिन्न थी। उनकी राय में कायदों का उद्गम स्थान, राजा की सत्ता में नहीं है। इन कायदों या नियमों के लिये प्रत्यक्ष ईश्वर या ब्रह्मा की आज्ञा का ही आधार है। ये आज्ञाएँ बृहस्पति के दण्ड नीतिशास्त्र में वर्णित हैं, और श्रुति, स्मृति आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इन आज्ञाओं को बदलने का या नई आज्ञाओं को प्रकाशित करने का अधिकार राजा लोगों को नहीं है। वर्त्तमान, समय में राजसत्ता का जो प्रधान अङ्ग प्रसिद्ध है, वह हिन्दुस्तान के प्राचीन राजाओं का न था। उस समय के राज्यों में आजकल की नाईं लेजिस्लेटिव—कौन्सिलें न थीं, नये अपराध या नये दण्ड उत्पन्न करने का का राजसत्ता को अधिकार न था। वारिसों के सम्बन्ध में जो पद्धति धर्म-शास्त्र में बतलाई गई है, उसे राजा बदल नहीं सकते थे। वे ज़मीन का महसूल बढ़ा नहीं सकते थे। राजा लोगों का यही काम था कि धर्म-शास्त्र या नीति-शास्त्र में बत-

लाये हुए नियमों का परिपालन समबुद्धि से तथा निष्पक्ष हो कर करें। यदि धर्म-शास्त्र की आज्ञा के समझने में कुछ सन्देह हो, तो ऐसी सभा की राय ली जाय, जिसमें धर्म-शास्त्र वेत्ता ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य सम्मिलित हों। फिर क़ानून का अर्थ समझ कर उसका परिपालन किया जाय। हाँ, यह बात सच है कि राजकीय सत्ता सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तों से उन्नति में थोड़ा सा प्रतिबन्ध होता होगा, परन्तु स्मरण रहे कि इस व्यवस्था के कारण राजाओं के अनियन्त्रित और स्वेच्छाचारी व्यवहार को क़ानून का स्वरूप कभी नहीं मिल सकता, और इस व्यवस्था से समाज की स्थिति को चिरस्थायी स्वरूप प्राप्त हो सकता है। यह कहने में कोई बाधा नहीं कि इस प्रकार समाज की स्थिरता सिद्ध हो जाने के कारण प्राचीनकाल में हिन्दुस्तान के राज्य अनियन्त्रित राजसत्ता के आधीन होने पर भी बहुत सुखी थे। इसके अतिरिक्त जो धर्म और शास्त्र के अनुसार राजा प्रजा का पालन नहीं करता था उसे अलग कर देने का अधिकार भी प्रजा को था। इस बात के कई प्रमाण भी हम पूर्व अध्यायों में दे चुके हैं।

राजा के आदर्श

हमारे प्राचीन भारतवर्ष में राजाओं के लिये जैसे ऊँचे आदर्श रक्खे गये थे वैसे हम समझते हैं कि संसार की किसी राजनीति में नहीं है। प्रजा के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिये राजा जिम्मेदार समझा जाता था। प्रजा की आर्थिक, शारीरिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नति करना, राजा का प्रधान कर्तव्य समझा जाता था। जो इन उच्चकर्तव्यों का यथेष्ट रीति से पालन नहीं करता था, वह नरक का अधि-

कारी माना जाता था। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि जो राजा विषय-भोग में लिप्त होकर प्रजा के कल्याण को भूल जाता है, वह घोरातिघोर नरक में पड़ता है।

मतलब यह है कि प्राचीन भारत में राजा के कर्त्तव्यों का आदर्श वर्तमान राज्य-आदर्श से बहुत ऊँचा था। इस लोक की तो बात ही क्या, पर प्रजा के पारलौकिक सुख दुख के लिए भी वह जिम्मेदार माना जाता था। हमारे भारतवर्ष में कई ऐसे आदर्श राजा हो गये हैं, जिन्होंने न केवल अपनी मनुष्य-प्रजा के लिये ही सुख समृद्धि की यथेष्ट व्यवस्था की थी, पर पशु-प्रजा के लिए भी उन्होंने ऐसे दिव्य विधानों का प्रचार किया था, जिनकी सानी के विधान कहीं नहीं मिलते ? हम दूर न जा कर महाराज अशोक के उन थोड़े से विधानों को देखने की सूचना करते हैं, जो उन्होंने अपने राज्य में प्रसारित किये थे। ये विधान अब भी शिलालेखों में मौजूद हैं। ये शिलालेख बड़े ही दिव्य हैं। इन शिलालेखों* के एक २ अक्षर में एक प्रकार का अलौकिक तथा दिव्य धार्मिक भाव भरा हुआ है। हम वर्तमान घमण्डी सभ्य संसार के राजनीतिज्ञों को चैलेन्ज देकर कह सकते हैं कि वे भारत को छोड़कर संसार भर के राजनीतिक इतिहास में इतने ऊँचे भाव दिखलावें, जो इन शिला लेखों में पाये जाते हैं।

राजा प्रजा का दास था

हम कह चुके हैं धर्मात्मा राजा को प्रजा अपना हृदय सम्राट् समझती थी पर वास्तव देखा जावे, तो राजा प्रजा का सेवक होता था। राज्य की आमदनी राजा की उन सेवाओं का प्रतिफल है, जो वह अपनी प्रजा की

* ये शिलालेख नागरीप्रचारणी सभा से प्रकाशित हो चुके हैं।
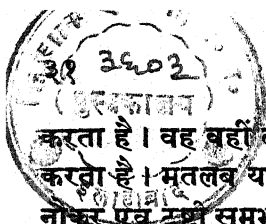
करता है। वह वहीं तक प्रभु है जब तक कि वह प्रजा की रक्षा करता है। मतलब यह है कि प्राचीन भारत में राजा प्रजा का नौकर एवं ट्रस्टी समझा जाता था। उसका यह कर्तव्य था कि राज्य की प्रजा से जो धन वह वसूल करे उसके बदले में प्रजा की रक्षा तथा उन्नति का प्रबन्ध करे। उसका यह काम था कि वह अपने राज्य में घूम घूम कर प्रजा की स्थिति को देखे और इस बात की जाँच करें कि जिस प्रजा की कठिन कमाई के धन पर वह पेट भरता है वह कहाँ तक सुखी है और कहाँ तक दुखी है। जो राजा ऐसा नहीं करता था, वह बड़ा नीच और पापी समझा जाता था।

राजा कैसा होना चाहिये।

हमारे शास्त्रों में लिखा है कि राजा को ज्ञान, कर्म और उपासना का ज्ञाता होना चाहिए, और इसके साथ ही दण्ड, नीति न्याय, विद्या तथा आत्म विद्या में पठित, वार्तालाप में चतुर और जितेन्द्रिय होना चाहिये। राजा ऐसा निष्पक्ष तथा धार्मिक हो कि प्रिय से प्रिय सम्बन्धी और मित्र को भी दण्ड दिये बिना न छोड़े। यदि राजा पाप करे तो उसे भी दण्ड मिल सकता है। सत्यवादी, विचारशील, महाबुद्धिमान, धर्म, अर्थ और काम के तत्वों को जाननेवाला राजा वृद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु इनसे विपरीत गुण वाला राजा उसी दण्ड से मारा जाता है। जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्टवचन के बोलने वाले, न डाँकू, न राजा की आज्ञा भंग करने वाले हैं, वह राजा उस आनन्द का भागी होता है, जिसे स्वर्ग का इन्द्र भोगता है। शुक्राचार्य जी

महाराज ने अपनी शुक्रनीति में राजाओं के गुण कितनी उत्तमता से बताये हैं

विद्यावत्सु शरच्चन्द्रो निदाघार्को द्विषत्सुचः ।
प्रजा सु च वसंतार्क इव स्यात्रि विधो नृप ॥

अर्थात् राजा विद्वानों में शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान, शत्रुओं में ग्रीष्म ऋतु के सूर्य्य के समान, और प्रजा में वसंत ऋतु में सूर्य के समान रहे।

इसी प्रकार शुक्रनीति में राजा के कर्त्तव्य और गुणों के विषय में और भी कुछ उल्लेख हैं; जिसका सारांश यह है कि "न्यायकारी" राजा अपने आपको और प्रजा को धर्म, अर्थ और काम से संयुक्त करता है और अन्यायकारी राजा अपने को तथा प्रजा को निश्चिय ही नष्ट कर डालता है। धर्मात्मा राजा देवों का अंश और पापी राजा राक्षसों का अंश होता है और वह धर्म नाशक तथा प्रजा को दुख देने वाला होता है। यदि राजा सुयोग्य न हुआ तो प्रजा समुद्र में नाविक रहित नौका के समान डूब जाती है। विषयासक्त राजा हाथी की नाईं बन्धन में फँस जाता है। बुद्धिमान् राजा बुरे पुरुषों से प्रेरित होकर भी अधर्म कार्य नहीं करता। मन विषयों के लोभ में इन्द्रियों को इधर उधर घूमाता है। अतः राजा प्रयत्न से मन को वश में रखें। उपरोक्त गुण तथा शुक्रनीति में प्रदर्शित अन्य कई गुणों से रहित राजा राक्षसों का अंश होता है, और नरक का भागी होता है।

राजा को विद्वान और शास्त्रविद् होना चाहिये

कई लोग कहते हैं कि प्राचीनकाल में राजाओं की शिक्षा दिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था, पर यह बात

ग़लत है। हाँ, जब से यह भारतवर्ष गैरों के हाथ पड़ा तब से हमारे राजाओं की शिक्षा का प्रबंध कुछ ढीला पड़ गया। पर प्राचीनकाल में राजाओं के युवराज ऋषियों के पास रखे जाते थे, और ऋषिगण उन्हें साहित्य, धर्मशास्त्र के अतिरिक्त बहुत कुछ व्यवहारिक ज्ञान भी करवा देते थे। राजाओं के लिये किन किन बातों के जानने की आवश्यकता है, इस का वर्णन करते हुए शुक्र नीति में लिखा है। कि राजा सदा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्ड नीति इन चारों विद्याओं का अभ्यास करे। आन्वीक्षिकी में तर्कशास्त्र और वेदान्तशास्त्र, शामिल हैं। त्रयी में चारों वेद, मीमांसा, न्याय, धर्म्म, शास्त्र, और पुराण शामिल हैं। वार्ता से सूद का व्यवहार, कृषि वाणिज्य, व्यापार और गोरक्षा का ज्ञान होता है। मतलब यह है कि शासन करने में तथा अपनी प्रजा की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, ज्ञान सम्बन्धी उन्नति करने के लिये जिन जिन विद्याओं की आवश्यकता है वह सब राजाओं को सीखनी पड़ती थी। राजाओं के लिये इन विद्याओं का सीखना एक आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था।

राजा ईश्वरीय अंश क्यों माना गया?

हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्राचीन काल में वही मनुष्य राजा हो सकता था जो राजनीति कुशल हो, धर्मशास्त्र में पारंगत हो, धर्मात्मा, न्यायी और समदृष्टि हो। दया और वीरता को हमारे आर्य लोग देव का अंश समझते थे, क्योंकि वे उसमें अनेक दैवी गुणों का आविष्करण देखते थे, अयोग्य, मूर्ख, व्यभिचारी, प्रजा के सुख दुखों से बेपरवाह राजा को उन्होंने कभी दैवी अंश नहीं माना। शुक्रनीति में लिखा

है कि दुष्ट राजा दैव नहीं, पर राक्षस है। जिस राजा में में दिव्य गुण होते थे, वही देवता का अंश माना जाता था। आश्चर्य यह है कि देवताओं का अंश माने जाने पर भी उसका दर्जा ऋषियों से तथा स्नातकों से कम माना जाता था। इस बात के सैकड़ों प्रमाण हमारे धर्म्मशास्त्र में मिलते हैं, जिनसे यह पाया जाता है कि हमारे राजा महाराजा ऋषि मुनियों की हर तरह की सेवा करने में अपना परम सौभाग्य समझते थे, और उनकी आज्ञा को हमेशा शिरोधार्य रखते थे। ऋषियों का दर्जा तो राजाओं से बहुत अधिक समझा जाता था, पर लोक-मान्य विद्वानों और स्नातकों का दर्जा भी राजा से कम न था। चाणक्य नीति में कहा है:—

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैवं तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान सर्वत्र पूज्यते॥

अर्थात्-राजा और विद्वान की कभी बराबरी नहीं हो सकती क्योंकि राजा तो स्वदेश ही में पूजा जाता है, पर विद्वान सर्वत्र पूजा जाता है। अब स्नातकों को बात लीजिए।

मनुजी ने कहा है कि जहाँ भिन्न भिन्न कई आदमी इकट्ठे हों वहाँ स्नातक और राजा मान के योग्य है, और जहाँ स्नातक और राजा हो, वहाँ राजा को स्नातक का मान करना चाहिये। इसी प्रकार के विचार आपस्तंव, गौतम, वशिष्ठ तथा बौद्धायन में पाये जाते हैं। बात यह है कि वैदिककाल में राजा की प्रभुता वैसी प्रबल न थी जैसी कि आगे चल कर हो गई। वैदिककाल में राजा एक बड़ा सर-दार समझा जाता था, राष्ट्र उसकी निज की जायदाद नहीं समझी जाती थी। वह केवल राष्ट्र का रक्षक समझा जाता था। प्रो० बालकृष्ण जी ने अपने "वेदोक्तराज्य" नामक ग्रन्थ

में मीमांसा दर्शन के कुछ सूत्र उद्धृत कर यह आशय निकाला है कि दुर्जनों को शिक्षा देना और सज्जनों का परिपालन करना यही राजा का कर्तव्य है और वही राजा का अधिकार भी है। भूमि को देने का अधिकार राजा को नहीं है, क्योंकि जो प्राणी अपने अपने कर्मों के फलों को भोग रहे हैं उनका इस भूमि पर समान रूप से अधिकार है।

राजा के गुण

राज्य के उच्चतम कर्तव्यों को भली प्रकार पालन करने के लिए राजा में चाणक्य के मतानुसार निम्न लिखित बातें होनी चाहिये। वह अच्छे खानदान में जन्मा हो, उसमें बृहस्पति के समान बुद्धि और प्रतिभा हो, वीरता हो, सूक्ष्मदर्शिता-पूर्ण बुद्धि हो, धर्म्म पर प्रेम हो, सच्चाई, सरलता, कृतज्ञता, और दृष्टि की व्यापकता हो तथा उत्साही हो। इतने गुणों के साथ साथ गम्भीरता, सुस्मरण शक्ति, प्रबल मान, कार्य्योत्साह, सर्वविषयक-पारदर्शिता, इनाम तथा दण्ड देने की बुद्धि, देश को आफतों से बचाने की सामर्थ्य, दूर दृष्टि, उपयुक्त अवसरों से तुरन्त लाभ लेने की स्फूर्ति, शान्ति तथा युद्ध का निश्चय करने की योग्यता, शत्रु की कम-जोरी का फ़ायदा उठाने की तत्परता, दूरदर्शिता, हास्यमय प्रकृति, काम, क्रोध, लोभ मोह, चिड़चिड़ापन, द्वेष आदि दुर्गुणों से विरक्तिआदि सद्गुण राजा में होने चाहिये।

महाभारत में राजा के कर्त्तव्यों के लिये कहा गया है कि राजा को क्रोध, और द्वेष रहित होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। वह बिना जुल्म के धन सम्पादन करे, दया को कभी न छोड़े, मोह रहित सुख भोगे, योग्य बात करे

वह शूरवीर और उदार हो, उसकी बहादुरी में दुष्टता न हो। दुष्ट मनुष्यों को छोड़ कर सब के साथ मित्रता करे। मित्रों से कभी दुश्मनी का भाव न रखें। ऐसे आदमियों को गुप्त दूत न रखे जो उसके भक्त न हों। बिना जुल्म के अपने उद्देश्यों की सिद्धि करे। दुष्ट मनुष्यों के सामने अपना उद्देश्य न खोले। दूसरों के गुणों की प्रशंसा करे, अपने गुणों की नहीं। दुष्ट मनुष्यों को कभी नौकर न रखें, न उनसे कभी किसी प्रकार की सहायता ले। बिना पूरी जाँच किये कभी किसी को सजा न देवे। वह कभी अपनी गुप्त मंत्रणाओं को प्रकट न करे। वह दूसरों पर विश्वास रक्खे, पर उन मनुष्यों पर न रखें, जिन्होंने उसे हानि पहुँचाई है। द्वेष को उत्तेजना न दें। अपनी विवाहिता स्त्रियों की रक्षा करे, और शुद्ध रहे। पात्र महानुभावों का हमेशा सम्मान करे। अपने गुरुओं और बड़ों की दिल से सेवा करे और निरभिमानी होकर ईश्वर की पूजा करे, तथा समृद्धि प्राप्ति के लिये यत्न करे; ऐसा कार्य न करे, जिससे उसकी अपकीर्ति हो। बड़ों के साथ नम्रता से पेश आवे, अपने कारोबार में होशियार रहे, और उपयुक्त अवसर को हमेशा देखता रहे।

कहिये पाठक! हमारे आर्य शास्त्रों के अन्तर्गत राजाओं में जिन सद्गुणों की आवश्यकता बतलाई है वे कितने उत्कृष्ट और दिव्य हैं, इन्हीं सद्गुणों के कारण उस समय के राजा देवताओं के अंश समझे जाते थे और प्रजा उनसे न्याय पाती थी। इसके सिवाय प्राचीन समय में राजा लोग नित्य सुबह उठ कर सभा भवन में जाते थे, और प्रजा के सुख दुखों की जाँच किया करते थे। अच्छे राजा अच्छे समय में नियत काम को किया करते थे। चाणक्य ने राजाओं का कार्य्य क्रम इस प्रकार विभक्त किया है:—

दिन का समय

(१) राज्य रक्षा के उपायों पर विचार करे।
(२) लोगों के दुख और शिकायतों को सुन कर उन्हें योग्य न्याय देने की व्यवस्था करे।
(३) स्नान, अध्ययन और भोजन करे।
(४) खजांची से हिसाब की जाँच करे।
(५) सचिवों से सलाह मशविरा करे।
(६) सब प्रकार की सेवाओं का निरीक्षण करे।
(७) प्रधान सेनापति से फ़ौजी मामलों में सलाह मशविरा करे।

रात का समय

(१) गुप्तचरों से समाचार प्राप्त करे।
(२) स्नान भोजन और संध्या करे।
(३) नींद ले।
(४) शास्त्रों और राजा के कर्तव्यों पर विचार करें।
(५) सचिवों से सलाह मशविरा करे, और गुप्तचरों को रवाना करे।

यह बात नहीं है कि यह समय क्रम ठीक ठीक वैसा ही पाला जाता था, जैसा कि ऊपर कहा गया है। सम्भव है कि कहीं कहीं इसमें कुछ फेर बदल भी होता हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि राजा लोग प्रायः समय के पावन्द रहते थे, और नियत समय में अपने नियत काम को करते थे। आवश्यक कार्य्य के समय कोई भी राजा कार्य्य में उपस्थित हो जाते थे। प्राचीन काल में यहाँ राजाओं का बहुत ऊँचा आदर्श माना जाता था। वे केवल अपनी प्रजा की इहलौकिक भलाई के कारण प्रयत्न

नहीं करते थे, पर उनकी आध्यात्मिक वृत्ति का विकास कर उनके लिये पारलौकिक सुख का मार्ग भी खोलने की चेष्टा करते थे। हमारे भारतवर्ष में ऐसे बहुत से राजा हो गये हैं, जो बड़े भारी तत्वज्ञानी और धर्म्म परायण थे, और ः जा की इहलौकिक व पारलौकिक उन्नति के लिये सदा सचेष्ट रहते थे। कालिदास ने सुप्रसिद्ध रघुवंश नामक काव्य में "दिलीप" नामक एक ऐसे रघुवंशीय राजा के चित्र का चित्रण किया है, जिसने अपनी प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति साधन में सदा सुख माना है। ऐतिहासिक समय में भी अशोक और हर्षवर्द्धन जैसे आदर्श नृपतियों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने अपनी प्रजा की भलाई के लिये कुछ उठा न रखा। कामंदकी का कथन है कि राजा को अपनी प्रजा की भलाई के लिये शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिये।

आदर्श राजा

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कई आदर्श राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने प्रजामत के आगे सिर झुकाया है और जिन्होंने प्रजा की भलाई के लिये अपना सर्वस्व दान करने में भी आगा पीछा न किया है। वे प्रजा की हमेशा सुधि लिया करते थे, प्रजा को न्याय देने के लिये हमेशा तत्पर रहते थे, प्रजा ही के नौकर होकर प्रजा ही से मिलने जुलने तक का परहेज करने वाले आज कल के मूर्ख और घमंडी राजाओं की तरह उनका व्यवहार न था। हमारे बहुत से पढ़े लिखे पाठकों ने सुप्रसिद्ध "सम्राट् अशोक" का नाम सुना होगा। उनका कथन है कि लोगों की भलाई के लिये मुझे कार्य करना

चाहिये, बिना इसके मैं उऋण नहीं हो सकता। मैं उऋण तब ही हो सकता हूं जब मैं अपनी प्रजा का और समस्त जीवधारियों का इतना हित-साधन करूं कि वे केवल इसी लोक में नहीं, परलोक में भी सुख पावें और स्वर्ग प्राप्त करें। कहिये पाठक! कितनी दिव्य भावना है? राज कर्त्तव्य की इतनी उत्कृष्ट भावना क्या आप संसार के किसी भी इतिहास में बतला सकते हैं। अशोक का हुक्म था कि मेरे किसी प्रजाजन को मेरे पास आने से कोई न रोके। चाहे मैं भोजन करता हूं, चाहे जनानखाने में हूं, चाहे सोता हूं, चाहे बाग बगीचे में हूं, पर मैं हमेशा अपनी प्रजा की सेवा के लिये तैयार हूं और प्रजा का तुच्छ से तुच्छ मनुष्य भी मुझ से मिल सकता है। मैं अपनी प्रजा की सेवा के लिये हर वक्त तैयार हूं। हर्षवर्द्धन का नाम भी न्यायपरायण और धर्मात्मा राजाओं में प्रख्यात है। यह भी खुद राज्य का सब काम देखता था। प्रजा के छोटे बड़े सब दुखों की जांच कर उन्हें हर प्रकार के सुख पहुंचाने की चेष्टा करता था। एक विदेशी प्रवासी ने इसके लिये लिखा है कि इसकी कीर्त्ति चारोओर फैली हुई है, इसके सद्गुणों ने स्वर्ग और पृथ्वी को हिला दिया है, इसकी न्याय-प्रियता की देवगण भी प्रशंसा करते हैं। उसकी प्रजा उसे बड़ी पूज्य दृष्टि से देखती थी। ह्यूएन-सांग की जीवनी में लिखा है कि "यह बड़ा ही धार्मिक और देशभक्त राजा था।" बाण कवि ने भी लिखा है कि "किसी राजा का शासन इतना निर्दोष नहीं था जितना कि हर्ष का था।" कई प्राचीन राजा गण अपनी प्रजा के सुख दुखों को जानने के लिये भेष बदल कर रात को घूमा करते थे। वे जिस प्रकार अमीरों के सुख दुःख जानने की चेष्टा करते थे

वैसे ही गरीबों के सुख दुःख जानने की भी चिन्ता किया करते थे। जहां उन्हें गुप्त रीति से किसी भी प्रजाजन योग्य शिकायत मालूम होती थी तो वह उसे दूर करने की यथाशक्ति चेष्टा करते थे। राजा विक्रम की जीवनी हमारे उपरोक्त कथन की साक्षी है। मतलब यह है कि पहिले ज़माने में व्यसनी, विलासप्रिय, प्रजा के सुख दुखों से बेपरवाह, लम्पट, मूर्ख और घमंडी राजा महाराजा न हुआ करते थे। वे बड़े ही सज्जन, सच्चरित्र, जितेन्द्रिय वीर और पराक्रमी हुआ करते थे।

राजाओं की शिक्षा और संस्कार

यह बात सब जानते हैं कि बचपन में जैसी शिक्षा दी जाती है, जैसे संस्कार डाले जाते हैं। वैसा ही प्रभाव आगे चलकर जीवन पर होता है। बचपन की परिस्थिति, शिक्षा तथा संस्कारों पर मनुष्य जीवन की नींव बनती है। इससे बचपन की शिक्षा और संस्कारों पर सब से अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। राजा लोगों के हाथ में हजारों लाखों मनुष्यों की किस्मत की बागडोर रहती है। ऐसी दशा में राजाओं के बचपन की शिक्षा और संस्कारों पर तो अत्यन्त ही ध्यान देने का प्रयोजन है। प्राचीनकाल में युवराजों को-भावी राजाओं की—शिक्षा पर कितना ध्यान दिया जाता था। यह बात हमारे आर्य-ग्रन्थों के पढ़ने से स्पष्टतया मालूम होती है। राजा का पुत्र जहां ६ या ७ वर्ष का हुआ कि उसकी शिक्षा का प्रबन्ध हो जाता था। वह ऋषियों के पास रखा जाता था, जहां वह धर्म-शास्त्र, नीति, विज्ञान, कानून, शास्त्र विद्या, आचार विज्ञान, शासन विज्ञान, आदि सब बातों की शिक्षा पाता था। पवित्र और उदार वातावरण में रहने के कारण उसमें विलासप्रियता;

दम्भ और दुष्टता न घुस पाती थी। राजा होने पर प्रजा को वह पुत्रवत् समझता था, और उसके हरएक दुख सुख को वह अपना दुख सुख समझता था। शुक्र नीति में लिखा है कि राजाओं के लिये राजनीतिविज्ञान का जानना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। राजा का पहला काम अपनी प्रजा की रक्षा करना और बुरे काम करने वालों को दण्ड देना समझा जाता था। राजपुत्र की शिक्षा के लिये एक ओर तो विद्वान ऋषियों का अथवा बड़े बड़े विद्वानों का प्रबन्ध किया जाता था और दूसरी ओर उससे शासन विभाग में काम लिया जाता था, जिससे उसे शासन का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त हो जाता था। जिसके परिणाम स्वरूप—भविष्य में अपने कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली होकर प्रजा पर मनमानी न करते थे। युवराज राज्य की कौंसिल का महत्त्वपूर्ण सदस्य रहता था और कई समय उसे किसी प्रान्त की गवर्नरी तथा फौज की कमाण्डरी करना पड़ती थी। अशोक अपने युवराज काल में दो प्रान्तों का गवर्नर था। समुद्रगुप्त ने युवराज की अवस्था में वीर होने की कीर्ति प्राप्त की थी। राज्यवर्द्धन को उसके पिता ने फौज़ का कमाण्डर बना कर हूंस के खिलाफ युद्ध करने को भेजा गया था। अगर कोई युवराज अपने कार्य में अनुपम योग्यता दिखलाता था तो वह उपराजा तक बना दिया जाता था। उसे वे सब अधिकार प्राप्त हो जाते थे जो राजा को रहते थे। कभी २ ऐसा भी होता था कि अपने इस प्रकार के होशियार और बुद्धिमान पुत्र को राजगद्दी दे कर राजा आत्म चिन्तवन के लिये राज्य छोड़कर बनवास में चले जाते थे। इस प्रकार हमारे प्राचीन भारत में उत्तम राजाओं की सृष्टि के लिये उनके बचपन ही से उनके जीवन को बनाने

के प्रयत्न किये जाते थे; और यही कारण है कि वे राजा जितेन्द्रिय न्याय परायण, और प्रजा हितैषी हुआ करते थे, और निरन्तर प्रजा का हित चिन्तवन किया करते थे।

प्राचीन भारत में प्रजातंत्र की भावनाएं

आजकल संसार में प्रजातन्त्र का डङ्का बड़े जोरों से बज रहा है। सारा संसार प्रजातंत्र की ओर गति कर रहा है। कई राज्य सिंहासन जड़ से उखाड़ डाले गए और कईयों का अस्तित्व डगमगा रहा है। कहा जाता है कि प्रजातन्त्र शासन प्रणाली अठारहवी सदी का पाश्चात्य आविष्कार है। अगर यह बात पाश्चात्य देशों के लिये कही जाती तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होती, क्योंकि १८ वीं सदी के पहिले आधुनिक संसार के बहुत से देश प्रजातन्त्र शासन प्रणाली से प्रायः अपरिचित थे। फ्रान्स, अमेरिका आदि देशों में इस प्रणाली का आविर्भाव १८ वीं सदी में हुआ। इङ्गलैण्ड में भी सम्राट् के रहते हुए लोक सत्ता प्रणाली का आविष्कार इसी समय के लगभग हुआ। हां स्विट्जरलैण्ड का प्रजातन्त्र सब से प्राचीन है। सन् १२९२ ईसवी में पहले पहल इसका सूत्रपात हुआ। हालैण्ड ने १७ वीं सदी में प्रजातन्त्र स्थापित किया था, पर इस वक्त वहाँ राजतन्त्र ही का बोलबाला है। इटली में तो इस प्रणाली की स्थापना १९ वीं सदी में हुई। कहने का मतलब यह है कि प्रजातन्त्र शासन प्रणाली यूरोप के लिये एक नई चीज़ है, पर यह भारतवर्ष के लिये नवीन नहीं कही जा सकती। जब सभ्यता की डींग मारने वाला आधुनिक पाश्चात्य संसार निरी जंगली अवस्था में था, जब यूनान, रोम और यूरोप के निवासी असभ्यता और अज्ञान के गहरे अंधकार में

लिप्त थे, उस समय भी भारतवर्ष में ज्ञान की दिव्य ज्योति के साथ साथ राजनीति की उच्चतम भावनाओं का भी उदय हो रहा था । आप संसार के सब से प्राचीन ग्रंथों को हाथ में लीजिए, और देखिये तो आपको मालूम होगा कि जिन प्रजातन्त्रीय भावनाओं का आज उदय हो रहा है, वे ही भावनाएँ सूत्र रूप से किस प्रकार उन ग्रंथों में विद्यमान हैं। अथर्ववेद में ऐसे कई मन्त्र आये हैं, जिनसे यह साफ प्रकट होता है कि उस समय राजा प्रजा के द्वारा निर्वाचित किये जाते थे हम कुछ मन्त्र नीचे लिखते हैं—

"इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि संह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
सत्वाय महवत स्वस्धस्थे सदेवान यक्षत् स कल्पाद्विश ।"

अर्थात्–हे राजन् ! मनुष्य जनता के सामने आइये । आप अपने निर्वाचन करने वालों के लिये अनुकूल हैं । इस पुरुष ने (पुरोहित) ने आपको आपके योग्य स्थान पर यह कहकर बुलाया है कि इसे देश की स्तुति करने दो और जाति को सुमार्ग पर चलने दो ।

त्वां विशो वृणुता राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवी ।
वर्ष्मन राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततोन उग्रो विभजा वसुनि।
अच्छात्यायन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतोऽजिरः सं चरातै ।
जायाः पुत्राः समामन सो भवन्तु बहुबलि प्रतिपथ्या साउग्र।

इन मन्त्रों का आशय यह है कि 'हे राजन् ! राजकार्य्य चलाने के लिये प्रजा तुझे निर्वाचित करे। इन पांचो प्रकाश युक्त दिशाओं में प्रजा तुझे निर्वाचित करे। राजा के श्रेष्ट सिंहासन का आश्रय लेकर हम लोगों में उग्र होते हुए भी धन की बाट किया करे। तेरे अपने देश निवासी ही तुझे बुलाते हुए तेरे पास आवें । तेरे साथ चतुर तेज युक्त दूत हों, राष्ट्र

में जितनी स्त्रियाँ और उनके पुत्र हों वे तेरी ओर मित्र भाव से देखें, तब ही तू उग्र होकर बहु बलि ग्रहण करेगा।

क्या इन मन्त्रों में प्रजातन्त्र के भाव नहीं हैं। उपरोक्त मन्त्र क्या सूचित करता है? वह राजा को निर्वाचित होने का आदेश तो करता ही है, पर इसके साथ ही वह सारी प्रजा को यहाँ तक कि स्त्रियाँ और बालकों तक को प्रसन्न रखने का राजा को आदेश करता है। कहिये पाँच हजार वर्ष पहिले भी भारतवर्ष ने प्रजातन्त्र का कितना दिव्य आदर्श प्रकट किया था। फिर देखिये।

आत्वाहर्ष मन्तर्मभ्रुवस्तिष्ठा विचाचलन।
विश सत्वा सर्वावाञ्छन्तु मात्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥

अर्थात् यहाँ तू है। मैंने तुझे चुना है। स्थिरता, और दृढ़ता पूर्वक खड़ा रह। सब श्रेणियों के लोग तेरी इच्छा करें। तेरा राजत्व तुझसे भ्रष्ट न हो। इस अथर्ववेद में पदच्युत राजा के पुनः निर्वाचन का उल्लेख आया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

हृदयन्तुत्वां प्रीतजना प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नि विश्वे देवास्ते विशिक्षेम मदी धरन्॥

इसका अर्थ यह है "(हे पुनः निर्वाचित राजा) तेरे विरुद्ध पक्ष के लोग भी तेरी सहायता करें। तेरे मित्रों ने तुझे निर्वाचित किया है। इन्द्र, अग्नि और अन्य देवताओं ने तुझे घर अर्थात् प्रजा ही में रक्खा था।" ग्रिफिथ साहब ने इस मन्त्र के आधे भाग का यह अर्थ किया है:—"तेरे प्रति पक्षी तुझे फिर स्वीकार करे, तेरे मित्रों ने तुझे फिर निर्वाचित किया है।"

इस प्रकार के कई मन्त्र अथर्ववेद में मिलते हैं जिनमें प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचित होने का उल्लेख है। एक तरह से देखा जावे तो अथर्ववेद के काल में राजा आज कल

के प्रेसिडेएट की तरह होता था। उसे प्रजा ही चुनती थी और प्रजा ही निकाल सकती थी। इन मन्त्रों से यह मालूम होता है कि जिस प्रकार राजा को निर्वाचित करने का प्रजा को अधिकार था, वैसे ही उसे शासनच्युत करने का भी प्रजा को अधिकार था। इसके साथ साथ वैदिक मन्त्रों से यह भी पाया जाता है कि उस समय केवल वंशानुगत राज्य की प्रथा न थी। जो आदमी योग्य, अनुभवी, विद्वान्, बलवान् और सदाचारी होता था, वही प्रजा के द्वारा निर्वाचित किया जाता था। अलौकिकतेज, दिव्य प्रतिभा, तथा प्रशंसनीय सद्गुण देखकर प्रजा राजा को चुनती थी। राजगद्दी पर बैठ जाने के बाद भी कोई अयोग्य और अत्याचारी निकल जाता तो प्रजा को यह अधिकार था कि वह उसे गद्दी से उतार दे। राज्याधिकार ग्रहण करते समय उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि "मैं नियमानुसार शासन करूँगा। यदि नहीं करूँगा तो आप मुझे सब प्रकार के दण्ड दे सकते हैं। मेरी निन्दा व प्रशंसा, पुत्र, कलत्र और जीवन तक तुम्हारे हाथ है। तुम्हें अधिकार है कि यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूँ और स्वेच्छाचारी होकर प्रजा को हानि पहुँचाऊँ व उसके प्रति द्रोह करूँ तो मुझे अपने प्रिय परिजनों से अलग कर सकते हो,—मुझे वन्दी गृह में बन्द कर सकते हो,—तथा मेरे प्राण ले सकते हो।"

मतलब यह है कि वैदिक युग में भी हमें प्रजातन्त्र के भावों का किसी न किसी रूप में आविर्भाव दिखलाई देता है। हाँ हम यह मानते हैं कि उस समय राजसत्ता का अस्तित्व था; पर राजा, प्रजा-पतिनिधियों की राय से राज कार्य्य करता था। ऋ० ३।३८।८ में कहा है—त्रीणि राजाना विदेथ पुरूणि पारि।

विश्वानि भूषथः सदांसि॥

अर्थात् राजा तीन विस्तृत सभाएं करते हैं, तथा उन सभाओं को स्वयं जाकर सुशोभित करते हैं। ऋग्वेद २-४-१५ में कहा है—

"राजाना बन भिद्रुहा ध्रुवे सद्स्युत्त में
सहस्त्र स्थूण आसोत ।

अर्थात् जो राजा अनेक स्तंभों से युक्त उत्तम और दृढ़ सभा में बैठते हैं, वे परस्पर अभिद्रोह करने वाले नहीं होते।

अथर्ववेद में कहा है:—सविशोनुव्यचलत ॥ १ ॥
तं॰ सभाय समितिश्च सेना च
सुरायाश्चवै स समितिश्च सेनायाश्च
सुरायाश्चप्रियं धाम भवति ए एवं वेद ।

अर्थात् जो राजा प्रजातन्त्र से चलता है, प्रजा समिति सेना, तथा सुरा (ऐश्वर्य) उसके अनुकूल चलते हैं। सभा समिति, सेना तथा सुरा का प्रिय स्थान वह राजा बनता है।" शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा है :—

राष्ट्री विशमति तस्माद् राष्ट्री विशं घातकाः ।

अर्थात् अनियन्त्रित राजा प्रजा को खाकर छोड़ता है। अतएव अनियन्त्रित राजा प्रजा का घातक है। इस प्रकार वेदों में और भी अनेक मंत्र आये हैं, जिनमें प्रजातन्त्रीय भावों का उल्लेख मिलता है। वेदों के बाद के ग्रन्थों में भी ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि वेदों के बाद राजा के होते हुए भी लोगों में किसी न किसी रूप में प्रजातन्त्रीय भावों (Democratic ideas) का अस्तित्व था।

बौद्ध काल में प्रजातंत्र

वास्तव में देखा जावे तो हमें बौद्ध काल ही से भारतवर्ष का प्रामाणिक इतिहास मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों के देखने से स्पष्टतया मालूम होता है कि जिस समय इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में भगवान् बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ था, उस समय यहाँ ११ प्रजातन्त्रीय राज्य थे। उनमें से कुछ का वर्णन हम नीचे देते हैं :—

शाक्यों का प्रजातंत्र राज्य

प्रोफेसर विनय कुमार सरकार का कथन है कि संसार की प्राचीन संस्कृति पर किसी ने इतना प्रभाव नहीं डाला, जितना कि शाक्यों के प्रजातन्त्रीय राज्यों ने। यह कहने की— आवश्यकता नहीं कि भगवान् बुद्धदेव ने शाक्य वंश में जन्म लिया, और उनके उपदेशों का प्रभाव सारे संसार पर पड़ा था। भगवान बुद्धदेव का उपदेश विश्वबन्धुत्व और मानवीय समानता का द्योतक था। शाक्यों का यह प्रजातन्त्रीय राज्य बड़ी ही उदार भावनाओं से संचालित किया जाता था। शाक्यों की संख्या कोई दस लाख थी, इनके राज्य की सीमा अधिक विस्तृत नहीं थी। पर शासन व्यवस्था बड़ी ही आदर्श थी। राज्य का सारा कारोबार लोक सभा के द्वारा सञ्चालित किया जाता था। इस सभा में नवयुवक और वृद्ध सब सम्मिलित होते थे और अपनी राय देते थे। सभा के सभापति को राजा का पद दिया जाता था, और वह प्रजा के द्वारा चुना जाता था। इस प्रजातन्त्रीय राजा का केन्द्र स्थान कपिलवस्तु नामक नगर था।

वज्जी लोगों का संयुक्त प्रजातंत्र राज्य

शाक्य लोगों के अतिरिक्त उस समय और भी कई प्रजा-तन्त्रीय राज्य थे जिनमें वज्जी लोगों का संयुक्त प्रजातन्त्र विशेष उल्लेखनीय है। यह प्रजा तन्त्र विशाल था। इसके अधिकार में कई स्वतन्त्र प्रजातंत्र थे। इसलिये प्रोफेसर राइज़ डेविड्स ने इसे संयुक्त प्रजातन्त्र कहा है। इस प्रजातन्त्र की सीमा २३०० मील तक थी। इसकी विशाल पार्लियामेंएट में नवयुवक और वृद्ध सम्मिलित होते थे। इसका प्रेसिडेन्ट लोगों द्वारा चुना जाता था। विदेह लिच्छवि लोगों का प्रजा तन्त्र इस महान् प्रजातन्त्र के अंतर्गत था।

भगवान बुद्धदेव के पश्चात् प्रजातंत्र

भगवान् बुद्धदेव के समय के प्रजातन्त्र राज्यों में से दो एक का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। ऐतहासिक अन्वेषणों से पता लगा है कि भगवान् बुद्धदेव के बाद भी भारतवर्ष में कई प्रजातन्त्र राज्यों का अस्तित्व रहा है। पाठक जानते हैं कि सम्राट चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में सुप्रख्यात यूनानी दूत मेगेस्थेनिज आया था। उसने उस समय की भारतवर्ष की स्थिति का उल्लेख अपने प्रवास वर्णन में किया है। दुःख है कि उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त इस समय उपलब्ध नहीं है। उसका जो थोड़ा बहुत अंश मिलता है उसमें सम्राट चन्द्रगुप्त के समय की भारतवर्ष की स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस प्रवास वृत्तान्त में मेगेस्थेनिज ने एक दन्तकथा का उल्लेख किया है, जो उस समय अर्थात् ईस्वी सन् पूर्व ३०२ में यहाँ प्रचलित थी। उसका आशय यह है कि डायोन्यूसीस से लगा

कर चन्द्रगुप्त के समय तक तीन बार प्रजातन्त्र शासन प्रणाली स्थापित हुई। मेगेस्थेनिज ने ऐसे कई नगरों का उल्लेख किया किया है, जिनमें राजतन्त्र भङ्ग होकर प्रजातन्त्र स्थापित हुए। उसने माल्टे करेरो (Malte coreroe) सिंघो (Singhoe) मोरुनी (Moruni) आदि कुछ ऐसे राष्ट्रों का उल्लेख किया है, जहाँ राजा न थे। महाबली सिकन्दर ने जब भारतवर्ष पर आक्रमण किया था, उस समय भी इस देश में कई प्रजातन्त्र राष्ट्रों (Republics) का अस्तित्व था। उनमें से कुछ का उल्लेख नीचे करते हैं।

पताला (Patala)

सिकन्दर के साथ आने वाले यूनानी सिपाहियों की दृष्टि से हिन्दुओं में पताला (Patala) की वही कीर्त्ति थी, जो यूरोप में उस समय स्पार्टा नगर की थी। यह बड़ा प्रसिद्ध नगर था। यहाँ यद्यपि नाम मात्र का राजा था, पर राजशासन का सारा कारोबार अनुभवी और वृद्ध लोगों की सभा के आधीन था।

अराष्ट्रों का तंत्र

हम ऊपर कह चुके हैं कि जब महा प्रतापी सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था, उस समय ऐसे कई लोग थे जिन पर प्रजातन्त्र का शासन था। इनमें तत्कालीन अराष्ट्र लोगों की प्रधानता से गणना की जाती है। सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक जस्टिन ने इन्हें डाकू नाम से सम्बोधित किया है। महाभारत में भी इन्हें घृणा सूचक शब्दों में स्मरण किया गया है। पर इन लोगों ने यूनानियों के विरुद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त को जैसी प्रबल सहायता की थी, वह इतिहास में भुलाई नहीं जा

सकती। इन लोगों पर कोई राजा नहीं था, इसी से ये अराष्ट्र कहलाते थे।

डिओडोरस ने एक और जाति के लोगों के उल्लेख किया है। ये जिन नगरों में रहते थे, उनमें प्रजातन्त्र शासन प्रणाली थी। सुप्रख्यात् इतिहास वेत्ता कर्टियस (Curtius) ने लिखा है कि ये स्वतन्त्र लोग थे। ये लोग कौंसिल में बैठकर राजकार्य्यों पर वादानुवाद किया करते थे। इनमें फौज़ी शासन था सेना सञ्चालक चुने जाते थे इनकी सेना में ६०००० हजार पैदल सिपाही, ६००० अश्वारोही सेना और ५०० रथ थे। सुप्रख्यात इतिहास लेखक एरियन (Arrian) ने ओरलेई (Orelai) अबेस्टेनोई (Abastanoi) क्लेथोरी (Clathori) तथा अरेबिहाई (Arabihai) नामक चार जातियों के लोगों का उल्लेख कर लिखा है कि ये स्वतन्त्र जातियां थी और अपना शासन आप करती थीं। ये लोग नौका विद्या में पारङ्गत थे।

Agalassois एगेलेसोईस

उपरोक्त लोगों के अतिरिक्त Agalassois और निसायन्स Nysains नामक जाति के लोगों का भी सम्राट् सिकन्दर की सेना से मुकाबिला हुआ था। कर्टियस लिखता है कि Agalasosis लोगों ने सिकन्दर की यूनानी सेना से बड़ी वीरता से युद्ध किया पर आखिर में ये हार गये। तब इन बीर देश-भक्तों ने राष्ट्रीय अपमान सहने के बजाय मृत्यु को अधिक पसन्द किया। उन्होंने अपने नगर को आग लगा दी और बच्चों सहित उसमें जा पड़े। बस देखते देखते धांय धांय करती हुई अग्नि ज्वाला में इनके नश्वर शरीर भस्मीभूत हो गये।

Nysaians निसायन्स

एरियन ने लिखा है कि निसायन्स लोगों का स्वतन्त्र प्रजा तन्त्र था। इसमें निर्वाचित अध्यक्ष रहता था। शासन सरदार और विद्वान लोगों के हाथ में था। सरदारों की ओर से राजशासन चलाने के लिए एक कौन्सिल थी, जिसमें तीन सौ अच्छे से अच्छे आदमी भेजे जाते थे। सम्राट् सिकन्दर ने इस वक्त इनमें से १०० आदमियों को बुलाया। इस पर कौन्सिल के अध्यक्ष ने सम्राट् सिकन्दर को कहलवाया कि ऐ राजा ! अगर किसी नगर में से उसके सर्वोत्कृष्ट १०० मनुष्य चले जावें तो वह कैसे सुशासित हो सकता है ?

मौर्य्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य का मध्यवर्ती काल

मौर्य्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य के बीच के समय में अर्थात् ईस्वी सन् पूर्व १५० से ईस्वी सन् ३५० तक भारतवर्ष में कुशान और आन्ध्र नामक दो शक्तिशाली राज्यतन्त्रों (Monarchies) के उदय के साथ साथ कई गणतन्त्र या प्रजातन्त्र राज्यों का भी उदय हुआ। राजनैतिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्त्व है। इनमें कुछ का उल्लेख हम नीचे करते हैं।

Yaudheyas

इन लोगों का देश सतलज के दोनों किनारों पर था। कनिंगहेम ने अपने Coin of India नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ईस्वी सन् पूर्व १०० में इन लोगों का स्वतन्त्र गणतन्त्र था। इन्होंने इसके पहिले महाबली सिकन्दर का बड़ी वीरता से मुकाबिला किया था। ईस्वी सन् के कुछ वर्षों पूर्व रुद्रदमन नामक राजा ने इन्हें परास्त किया। इनका महा-

राजा लोगों के द्वारा निर्वाचित किया जाता था। वह महा-सेनापति भी कहलाता था।

मालव गणतन्त्र

चम्बल और बेटवा के बीच में मालव लोगों की बस्ती थी। ईस्वी सन् के पूर्व २०० वर्षों में इन लोगों का स्वतन्त्र गणतन्त्र संगठित हो रहा था, यह गणतन्त्र लगभग सौ वर्ष तक रहा।

कहने का मतलब यह है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में कई गणतन्त्र या प्रजातन्त्रों का उदय हुआ था और इनमें से कइयों का उस समय की राजनैतिक अवस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

तीसरा अध्याय

प्राचीन भारत का युद्ध-विभाग

प्राचीन भारतवासियों ने सेना सङ्गठन के कार्य में भी अपनी अपूर्व प्रतिभा और कौशल का परिचय दिया था। उनका सेना संगठन, उस समय की परिस्थिति को देखते हुए अद्भुत और आश्चर्यकारक था। कई बार उन्होंने अपनी अपूर्व वीरता और उच्च श्रेणी के सङ्गठन के कारण विदेशी आक्रमण कारियों के छक्के छुड़ा दिये थे। सु-प्रख्यात यूनानी वीर सिल्यूकस और मिनैण्डर (Menader) को वीर भारतीय सैनिकों ने किस बुरी तरह से हराया था, इतिहास के पाठकों से वह बात छिपी नहीं है। उस समय भारतवर्ष का वायु-मण्डल तक वीरता के तत्त्वों से भरा पड़ा था। एक बार महा पराक्रमी सम्राट् सिकन्दर ने एक भारतीय साधु से पूछा था कि आप शम्भू को बलवा करने के लिये क्यों उभाड़ रहे हैं? इस पर इस साधु ने जवाब दिया "मैं चाहता हूं कि या तो वह वीर की तरह सम्मानपूर्वक जीवित रहे या मर जावे। मतलब यह है कि जिस समय सम्राट् सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था, उस समय यहां के साधु, पुरोहित और धर्मोपदेशकों में भी वीरता और देश-रक्षा के भाव भरे हुए थे। ये जनता में क्षात्र भाव भरते थे और उन लोगों को धिक्कारते थे, जो विश्वास-घात और देश-द्रोही होकर विदेशी शत्रुओं से जा मिलते थे। तक्षशिला का राजा देश के प्रति विश्वास-घात कर सिकन्दर से जा मिला था, इससे

तत्कालीन कई भारतीय साधुओं ने उसे इस पापमय और नीच कृत्य के लिये बुरी तरह धिक्कारा था। इतना ही नहीं ये साधु और दार्शनिक लोग केवल "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" के ढकोसले में नहीं पड़े रहते थे, वरन् ये अपने ओजस्वी प्रभाव से सर्व साधारण जनता को देश रक्षा के पवित्र कार्य में अपने जीवन की आहुति दे देने के लिये प्रेरित करते थे। इसी से सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता Plutarch ने अपने Life of Alexander नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सम्राट् सिकन्दर को जितनी तकलीफ़ योद्धाओं से नहीं हुई। उतनी इन साधुओं पुरोहितों और धर्मोपदेशकों से हुई थी। इनमें से कईयों को सिकन्दर के कोर्ट मार्शल का शिकार बन कर मातृ-भूमि की सेवा के अर्थ अपने प्राण तक न्योछावर करने पड़े थे।

यह तो हुई उस समय की देश रक्षा की भावनाओं की बात। अब ज़रा सैनिक सङ्गठन की ओर चलिये। इस स्थान पर हम पुराणों और महाभारत में उल्लिखित महा विशाल सेनाओं का वर्णन नहीं कर रहे हैं। हम उस ऐतिहासिक काल की बात कह रहे हैं, जिस समय महा बली सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। उस समय भारत कई छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था जिनके पास अपने अपने राज्य की शक्ति के अनुसार बड़ी विशाल सेनाएँ थी। सुप्रसिद्ध लेखक प्लुचर ने अपने Ancient Magot में लिखा है कि उस समय मगध देश के राजा की अधीनता में २०००० अश्वारोही सेना, २०००० पैदल सिपाही २००० रथ और ४००० हाथी थे। यह राजा नौ नंदों में से था। प्लिनी ने लिखा है कि भारत के पूर्वीय भाग उड़ीसा में एक छोटा सा राजा था, जिसके ताबे में ६०००० पैदल फ़ौज

१०००० घुड़ सवार और ७०० हाथी थे। ये हमेशा युद्ध के लिये सुसज्जित रहते थे। मेगेस्थेनिज के प्रवास-वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय भारत के नितान्त दक्षिण देश में Poney का राष्ट्र था जिस पर स्त्रियों का राज्य था। इस राज्य की आधीनता में १५००० पैदल सिपाही और ५०० हाथी थे इसी समय गुजरात के राजा की आज्ञा में १६०० हाथी १५००० पैदल फौज और ५००० घोड़े थे।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय।

ई० सन् ३६० में हरिषेण नामक गुप्त साम्राज्य के एक उच्च श्रेणी के फौजी अफसर ने संस्कृत भाषा में एक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में महा पराक्रमी भारत सम्राट समुद्रगुप्त की दिग्विजय का बड़ा मनोहर वर्णन है। समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय यात्रा में प्राचीन राज्यों को किस किस प्रकार विजय किया था, उन्होंने किस प्रकार कई राजाओं को पकड़ा और फिर उन्हें सम्मान के साथ बिदा कर दिया, आदि बातों का इस ग्रन्थ में विस्तृत उल्लेख है। यद्यपि इसमें समुद्रगुप्त के उन सैनिक दाव पेंचों को नहीं दिखलाया है, जिनसे उसे इतनी बड़ी सफलता मिली, पर उससे यह अवश्य ही ध्वनित हो जाता है कि सम्राट समुद्र गुप्त का सैनिक सङ्गठन अत्यन्त दृढ़ और उच्च श्रेणी का था। अगर ऐसा न होता तो इस प्रबल पराक्रमी सम्राट को लगातार सौ युद्धों में कैसे विजय प्राप्त होती।

धर्मपाल की विशाल जल सेना।

आठवीं सदी में बङ्गाल और विहार में धर्मपाल नामक

एक प्रबल प्रतापी राजा हो गया। सन् ७८३ के लगभग उसने कन्नोज के सिंहासन पर चक्रयुद्ध नामक क्षत्रिय को बैठाने के लिये युद्ध यात्रा की। "बंगेर इतिहास" नामक बङ्गला भाषा की पुस्तक में लिखा है कि इस समय इसने अस्थायी रूप से मालवा, उत्तरी पश्चिमी राजपूताना, पूर्वीय पञ्जाब और सिंध तथा अफगानिस्तान के कुछ हिस्से पर अधिकार कर लिया था। इस समय इसकी विजय पताका अधिकांश भारतवर्ष पर फहराने लगी थी। खालिमपुर के एक ताम्रलेख से पता चलता है कि इस राजा के पास जहाँ असंख्य भूमि सेना थी, वहाँ बड़ी सुदृढ़ जल सेना भी थी। इसने एक वक्त सैनिक आवश्यकता की पूर्ति के अर्थ गंगा नदी में नावों का एक विशाल पुल बना दिया था।

चोल साम्राज्य की जल सेना।

दक्षिण के चौलुक्य सम्राटों के पास भी विशाल जल सेना थी। इसी सेना की सहायता से वहां के महान् राजा ने (६८५–१०१८) अपने प्रतिद्वन्दी चैरा राज को नष्ट किया था, और लङ्का को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। कहा जाता है कि इस राजा ने अपनी जल-सेना से कई युद्धों में लगातार विजय प्राप्त की, और कई समुद्रीय टापुओं पर अधिकार कर लिया। इतना ही नहीं इसने अपनी जल सेना से समुद्र लांघ कर बर्मा पर भी धावा मारा, और पेगू पर अधिकार कर लिया। अन्दमान, नीकोबार तक को इसने अपने साम्राज्य में मिला लिया। कहने का अर्थ यह है कि इसकी जल सेना इतनी सुदृढ़ और सुसङ्गठित थी कि उससे उसने अपने साम्राज्य को इतना विशाल और विस्तृत कर लिया।

सातवीं शताब्दी का सैनिक भारत

सातवीं सदी में सम्राट हर्षवर्द्धन की कीर्ति ध्वजा न केवल भारतवर्ष में, पर चीन आदि देशों में भी फहरा रही थी। सुप्रख्यात चीनी प्रवासी ह्यूएनसांग उस समय भारतवर्ष में आया था। उसने सम्राट हर्ष की विशाल सेना का जिक्र किया है। उसने लिखा है कि पहले तो सम्राट हर्ष वर्द्धन की आधीनता में ५०००० पैदल फौज २०००० अश्वारोही सेना तथा ५००० हाथी थे, पर जब उसने सारे उत्तरीय भारत और अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया, तब उसकी सेना में १००००० पैदल सेना और ६०००० हाथी हो गये दे।

इतिहास के पाठक जानते हैं कि सम्राट हर्षवर्द्धन दिग्विजय के लिये निकला था, और उसने बहुत से राष्ट्र विजय कर लिये थे। भारत की तो बात ही क्या, अफ़गानिस्तान तक पर इसका विजय झंडा फहराने लगा था। पर जब वह विजय पर विजय प्राप्त करता हुआ, दक्षिण भारत में पहुँचा, तब उसे चालुक्य सम्राट पुलकेशी से मुकाबिला करना पड़ा। इस मुकाबिले में पुलकेशी ने सम्राट हर्ष वर्द्धन को हरा दिया, और उसकी गति को रोक दिया। इससे पाठक सहज ही, यह अनुमान कर सकते हैं कि या तो पुलकेशी के पास हर्ष से अधिक सेना होगी या उसका सैनिक सङ्गठन हर्ष से अधिक सुदृढ़ होगा। ह्यूएनसांग ने लिखा है कि पुलकेशी की आधीनता में सुदृढ़ जल सेना भी थी। उस जलसेना में सैकड़ों जहाज थे।

आन्ध्र साम्राज्य की सेना

चौलुक्यों के उदय के पहिले कई सदियों तक दक्षिण भारत आन्ध्र लोगों की अधीनता में रहा। इनके पास भी

बड़ी सुदृढ़ और सुविशाल जल सेना थी। आन्ध्र सम्राट यज्ञ-श्री (ईस्वी सन् १७३-२०२) के समय के जो सिक्के मिले हैं, उन पर जहाज का चिन्ह है। इसका मतलब यह है कि आन्ध्र वंश के राजा अपनी जलसेना को बड़ा महत्व देते थे। इस समय से पाँच सौ वर्ष के पूर्व आन्ध्र वंश अपने आपको मौर्य्य वंश की तरह शक्तिशाली समझता था। मेगेस्थेनिज ने लिखा है कि इस समय आन्ध्र साम्राज्य के तावे में १००००० पैदल सेना, २००० अश्वारोही सेना और १००० हाथी थे। प्लीनी ने भी ऐसी ही बात लिखी है।

पंजाब की जल सेना

ग्रीक और रोमन लेखकों ने तत्कालीन पंजाब के विषय में जो कुछ लिखा है, उससे पता चलता है कि बंगाल की तरह उस समय पंजाब की नदियों में भी जहाजें चलती थीं। सम्राट सिकन्दर का पंजाब की जलसेना ने भी बड़ा मुकाबिला किया था।

उस समय पंजाब के क्षत्रिय योद्धा जलसेना के कार्य में बड़े कुशल थे। इसके पहिले जब असीरिया की रानी सेमरामिस ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी, तब कोई चार हजार हिन्दू जहाजों ने उसका प्रतिकार किया था। प्रसिद्ध मुसलमान लूटेरे मुहम्मद ने भी, जब पंजाब पर धावा किया था, तब वहाँ की जलसेना ने उसका बड़ा प्रतिकार किया था।

सम्राट चंद्रगुप्त की सेना

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्राट चन्द्रगुप्त के काल से भारतवर्ष के प्रथम ऐतिहासिक युग का आरंभ होता है। उन्होंने कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचियता चाणक्य की सहायता से नंदवंश का नाश कर मगध का राज्य स्थापित

किया था। इसके पास महान् विशाल सेना थी। ६००००० पैदल सेना, ३०००,०० अश्वारोही सेना, ६००० हाथी, और ८००० रथ सदा इनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते थे। इनकी अधीनता में सुविशाल जलसेना भी थी, पर वह कितनी थी, इसका ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

सैनिक व्यवस्था

ऊपर हमने सम्राट चन्द्रगुप्त की सेना की संख्या पर कुछ प्रकाश डाला है। अब हम उनकी सैनिक व्यवस्था पर भी कुछ पंक्तियाँ लिखते हैं। सुप्रख्यात् यूनानी प्रवासी मेगेस्थेनिज ने लिखा है कि सैनिक योद्धाओं को राजा के खर्च से तनख्वाह दी जाती थी और वे हमेशा युद्ध के लिये सुसज्जित रहते थे। एरियन ने लिखा है कि सैनिकों को उदारता पूर्वक इतना वेतन दिया जाता था, जिससे वे अपना निर्वाह भली प्रकार कर सकें।

सुप्रख्यात् इतिहासवेत्ता मेकक्रिंडल लिखते हैं कि मौर्य्य सम्राट का युद्ध-विभाग (War-office) एक कौंसिल के आधीन था, जिसमें तीस सदस्य रहते थे। इस कौंसिल के अन्तर्गत ६ बोर्ड थे, इनमें से प्रत्येक में पाँच पाँच मेम्बर थे। इन जुदे जुदे बोर्डों के जिम्मे सेना सम्बन्धी जुदे जुदे काम थे। भूमिसेना और जलसेना का शासन भार जहाँ एक बोर्ड के सुपुर्द था। वहाँ सेना को सामानादि पहुँचाने का काम दूसरे बोर्ड के आधीन था। तीसरे बोर्डों के सुपुर्द हाथी और रथों को सम्भालने का काम था। इस प्रकार अन्य बोर्डों के सुपुर्द भी अन्य काम थे।

चौथा अध्याय।

भारतवासियों का सामाजिक सङ्गठन

प्राचीन भारतवासियों ने अपने सामाजिक सङ्गठन में जिस अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है, वह आश्चर्यजनक है। प्रोफेसर हॉटन महोदय ने अपने Institutes of Hiudu Law नामक ग्रन्थ में लिखा है कि प्राचीन हिन्दुओं के समान उच्चश्रेणी का सामाजिक सङ्गठन संसार के प्राचीन इतिहास में कहीं न मिलेगा। यह सङ्गठन शास्त्रीय और वैज्ञानिक, तत्त्वों पर खड़ा किया गया है। यह सङ्गठन ऐसा है कि अगर उसके अनुरूप व्यवहार किया जावे तो समाज में बहुत कुछ सुख तथा शान्ति की वृद्धि हो सकती है।

मनुष्य समाज का तथा मनुष्य प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि मानसिक वृत्तियों में सब ही व्यक्तियों का स्थान और दर्जा एक नहीं हो सकता। सब की प्रकृतियों में एक ही वृत्ति की प्रधानता नहीं दिखलाई देती। मानव-जीवन सम्बन्धी इन्हीं सब सूक्ष्म-वृत्तियों का अन्वेषण कर हमारे प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य के सामान्यतया चार भेद कर दिये हैं। वे चार भेद ये हैं, (१) विचार प्रधान (२) क्रिया प्रधान, (३) इच्छा प्रधान और (४) अविकसित वृत्ति। पहले प्रकार के पुरुषों को अध्ययन अध्यापन और मानसिक श्रम प्रिय होते हैं, दूसरी श्रेणी के मनुष्यों को अधिकार की लालसा रहती है और इसके लिये वे अपना सारा जीवन लगा देना पसन्द करते हैं। तीसरे वर्ग के लोगों

को सम्पत्ति प्रिय होती है, और उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार के भोगों की चाह रहती है। चौथे वर्ग के लोगों में किसी भी वृत्ति का विकास नहीं होता, इससे इनकी दृष्टि केवल शरीर सुख और तत्कालीन आनन्द लाभ के परे नहीं जाती। अतएव मनुष्यों की इन भिन्न भिन्न वृत्तियों के अनुसार समाज के कल्याण के लिए भिन्न भिन्न कार्य्य उन्हें सौंपे जाने चाहिये और इसके लिये उनके सामने भिन्न भिन्न प्रकार के पारितोषिक रखना चाहिये, जिससे कि वे उन कार्य्यों को तत्परता से करें। भारतीय वर्ण व्यवस्था सामाजिक सङ्गठन के इन्हीं तत्त्वों पर खड़ी की गई है। पहला विचार प्रिय लोगों का ब्राह्मण वर्ग है। इसे समाज में अध्ययन और अध्यापन का काम सौंपा गया था और उसके लिये उस वर्ग का समाज में विशेष प्रतिष्ठा का स्थान रक्खा गया था। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण न तो सम्पत्ति जमा कर सकता है और न राज्याधिकार ग्रहण कर सकता है। समाज उसके लिये उदर निर्वाह का प्रबन्ध करे और उसे सर्वोच्च सम्मान दिया करे, बस इतने ही पर ब्राह्मण सन्तुष्ट रहे। यह त्यागवृत्ति ब्राह्मणों के लिये आवश्यक समझी गई थी और इसी लिये हिन्दू शास्त्रों में समाज का नेतृत्व उन्हें दिया गया था। बुद्धिमान, विचार प्रधान और सामाजिक व्यवहारों से निरपेक्ष होने के कारण समाज के लिये नियम बनाने का काम ब्राह्मणों को सौंपा गया। समाज का धार्मिक नियन्त्रण करने का काम भी इन्हीं के कन्धों पर रक्खा गया। दूसरे दल पर समाज की रक्षा का भार डाला गया, और तदनुसार राज्याधिकार भी उन्हीं को दिया गया। राजा से लेकर छोटे कर्मचारी तक के सब काम और सिपाहीगिरी इस वर्ग का कर्त्तव्य माना गया। इसके

लिये उन्हें उचित वेतन और अधिकार दिया गया। तीसरा वैश्यों का वर्ग है। इसका यह कार्य निश्चित किया गया है कि कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा आदि विहित साधनों से यथेष्ट सम्पत्ति उपार्जन करना, और उन्हें समाज तक पहुंचाना और धर्म की मर्यादा का भङ्ग न करते हुए उसका यथेष्ट उपभोग करना। समाज के लिये आवश्यक वस्तुएं उत्पन्न करना भी इनका कार्य समझा गया। धन पैदा करना और उसका उपभोग करने का निषेध इनके लिए नहीं था। अतएव समाज के कल्याण के लिए सम्पत्ति के कुछ अंश का उपभोग करना उनके लिये आवश्यक समझा गया था। इसलिये स्वसुख की ओर पहले दो वर्गों की अपेक्षा इस वर्ग की प्रवृत्ति अधिक रहती है। चौथा वर्ग शूद्रों का था, यह वर्ग असंस्कृत मस्तिष्कों का रक्खा गया था, जिनमें न तो ब्राह्मणों सा ज्ञान, और बुद्धिमानी थी, न क्षत्रियों सा क्षात्र तेज था, और न वैश्यों की सी सम्पत्ति उपार्जन करने की शक्ति थी, इसी लिए ऐसे लोगों को शूद्रों की श्रेणी में रक्खा गया।

यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह वर्ण-व्यवस्था गुण कर्मानुसार रक्खी गई थी, जिस मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति जिस तरह की होती थी, वह उसी के अनुरूप वर्ग में रक्खा जाता था। जन्म विशेष से कोई उच्च या नीच न होता था। जिस प्रकार इन दो ढाई हजार वर्षों से किसी विशिष्ट जाति में जन्म लेने ही मात्र से मनुष्य ऊंच या नीच वर्ग का हो जाता है। यह बात पहले नहीं थी। मनुजी ने अपनी स्मृति में स्पष्ट कहा है:—

"जन्मना जायते शूद्रा संस्कारात् द्विजोच्यते"

अर्थात् जन्म से तो सब शूद्र होते हैं, फिर जैसें जिसके

संस्कार होते हैं, उन्हीं के अनुरूप वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बन जाते हैं।

जिस प्रकार आज कल शूद्रों से गये बीते आचरण होने पर भी केवल ब्राह्मण कुल में जन्म ले लेने से मनुष्य मनुष्य समाज के लिये पूज्य माना जाता है, इस प्रकार की व्यवस्था पहले न थी, वर्ण व्यवस्था का सारा दारोमदार, सारा पाया गुण कर्मों पर निर्भर था। जन्म से इसकी कोई मुराद नहीं थी। जब से इस स्वाभाविक वर्णाश्रम पद्धति में भ्रष्टता और गुणकर्मगत श्रेष्ठता के बजाय जन्म गत श्रेष्ठता का अनुमान किया जाने लगा, तब ही से भारत की अधोगति का सूत्रपात हुआ।

दर असल बात यह है कि भारत की वर्णाश्रम धर्म पद्धति की नींव शास्त्रीय श्रम विभाग (Scientific Division of Labour) पर रक्खी गयी है। समाज को घोर अशान्ति से बचाने के लिये इसकी नींव डाली गयी थी। आज कल के पाश्चात्य समाज के समान इसमें स्पर्द्धा के लिये कारण ही नहीं था। मनुष्य समाज के भिन्न भिन्न वर्गों के लिये उसकी मनोरचना के अनुसार कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये थे, एवं प्रवृर्तक कारण रख दिये गये थे। एक वर्ग के हाथ में नियम-कानून बनाने की शक्ति रखी गई थी, तो दूसरे वर्ग के पास राज्याधिकार रखा गया था, और तीसरे के पास सम्पत्ति। इस प्रकार इसका बटवारा किया गया था। इधर क्षत्रियों की अधिकार सत्ता पर ब्राह्मणों का नियन्त्रण रखा गया था, उधर दोनों की आवश्यकता पूर्ति का साधन-सम्पत्ति—तीसरे वर्ग के हाथ में रक्खा गया था।

इस व्यवस्था में शासनसत्ता का नाश नहीं किया गया था परन्तु यह भी नहीं कहा गया कि वह (सत्ता) अमुक ही प्रकार

की होनी चाहिये। इसी सामाजिक पद्धति के अन्तर्गत बहुतन्त्री और एकतन्त्री दोनों सत्ताएँ सम्भव हो सकती थीं। इसीसे प्राचीन समय में भारत में लोकसत्ता और राज्यसत्ता दोनों प्रकार की राजकीय पद्धतियों का अस्तित्व पाया जाता था। इस व्यवस्था से यह भावना दृढ़ होती थी, कि सारा समाज एक विराट् देह है, और भिन्न भिन्न वर्ग उसके हाथ पाँव आदि भिन्न भिन्न अवयव हैं। स्वत्व के साथ ही कर्त्तव्य की जबाबदेही प्रत्येक वर्ग पर डाली गई थी, और सब का धुरीणत्व तथा नेतृत्व, त्याग सम्पन्न, निरपेक्ष और बुद्धिमान वर्ग को सौंपा गया था। दुःख के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस सुन्दर वर्णाश्रम-पद्धति का सत्यानाश हो गया, और आज कल की भ्रष्टजाति-प्रथा ने भारतवर्ष को बहुत कुछ गारत कर दिया, और आगे भी यह इस राष्ट्र का जोंक की तरह जीवन चूस रही है।

आज कल पाश्चात्य देशों में बोलशेविज्म का प्रचार हो रहा है। बोलशेविज्म यूरोपीय-सामाजिक पद्धति के दोषों का परिणाम है। वहाँ की समाज पद्धति में श्रमविभाग का सुन्दर विभाजन न होने के कारण धनवान तो अधिकाधिक धनवान होते जाते हैं; और गरीब अधिकाधिक गरीब होते जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि वहाँ मनुष्य समाज का एक समुदाय विशेष तो इतना अधिक धनिक है कि जिसकी अशेष सम्पत्ति को देख कर शायद कुबेर भी मोहित हो जाय, और दूसरा वर्ग इतना ग़रीब है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। सम्पति ही वहाँ के समाज का आदर्श है। अतएव इस साम्पतिक असमानता ने वहाँ के समाज में एक अर्से से अशान्ति मचा रखी है। इस अशान्ति का परिणाम, साम्यवाद,

सङ्घवाद और अन्त में इन सबका उग्र रूप बोलशेविज्म में निकला। बोलशेविज्म अत्याचारी सामाजिक पद्धति की एक जबरदस्त प्रतिक्रिया (Reaction) है। प्रतिक्रिया जनित होने के कारण यह अस्वाभाविक है। इसकी सृष्टि करने में मनुष्य की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का बहुत कम खयाल रखा गया है। यह जिस तरह सब मनुष्यों में समानता लाने का—मनुष्य समाज से शासन-सत्ता बिलकुल उठा देने का—प्रयत्न कर रही है, उससे सुदूर भविष्य में उसका असफल होना निश्चित है। सुप्रख्यात बर्नार्ड-रसेल जैसे सुप्रख्यात् साम्यवादी विद्वान् इसकी असफलता के स्वप्न देखने लगे हैं। सुना जाता है कि बोलशेविज्म के जनक स्वर्गीय लेनिन को स्वयं भी अपनी कई भूलें मालूम होने लगीं थीं। अगर यह सफल भी हो जावे तो मनुष्य-जाति के लिये विशेष लाभकारक नहीं है। सम्पति और प्रतिष्ठा के विचार से मनुष्य की प्रतिभा शक्ति को जो एक प्रकार की स्वाभाविक स्फूर्ति मिलती है, वह इससे बन्द हो जायगी, जिससे मानव-जाति के मानसिक विकास में बड़ी बाधा पहुँचेगी, और संसार को बड़ी हानि होगी।

इन्हीं सब बातों का विचार कर कई पाश्चात्य विचारकों ने बोलशेविक पद्धति को अस्वाभाविक और मनुष्य-जाति के विकास के लिये अहितकर ठहराया है। काशी के सु-प्रख्यात विचारक और गम्भीर विद्वान बाबू भगवानदास जी ने अपने Social Re-construction नामक ग्रंथ में बोलशेविज्म और भारतीय वर्णाश्रम पद्धति का सूक्ष्म अन्वेषण कर यह सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है कि बोलशेविज्म के मुकाबिले में भारतीय वर्णाश्रम पद्धति अधिक शास्त्रीय, (Scientific) मानव मनो-रचना के अधिक अनुकूल और अधिक जनविकास-हित कर है।

चौथा अध्याय

प्राचीन भारतीय साहित्य

एक विद्वान् का कथन है कि किसी राष्ट्र की महानता का प्रधान चिन्ह उसका साहित्य है। साहित्य से किसी राष्ट्र की बुद्धि और प्रतिभा ही का प्रदर्शन नहीं होता है, वरन् उसकी आत्मा का भी होता है। साहित्य ही वह प्रकाश है, जिससे राष्ट्र की आत्मा, उसकी सभ्यता, संस्कृति, सदाचार, प्रतिभा, विचार, और विद्वत्ता के ठीक ठीक दर्शन कर सकते हैं। कोई राष्ट्र कहाँ तक उन्नत है, इसका प्रधान पथ-दर्शक उसका साहित्य ही है। साहित्य राष्ट्र की आत्मा का-उसके विचारों का-मानो प्रतिबिम्ब है। जिस राष्ट्र में जितना उच्च और दिव्य साहित्य है। उस राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति उतनी ही उच्च और दिव्य है। इस दृष्टि से अगर हम भारत के प्राचीन साहित्य को देखते हैं तो हमें भारत की सभ्यता और संस्कृति की उच्चता और दिव्यता का पता लगता है। काऊन्ट जानस्टर्जन ने "Theogony of the Hindus" नामक ग्रन्थ में लिखा है भारतीय साहित्य हमें भूतकाल के एक महान राष्ट्र का परिचय करवाता है। भारतीय साहित्य में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का समावेश है, संसार की सभ्यता के इतिहास में भारतीय साहित्य अति उच्च और विशेष पद ग्रहण करेगा। प्रोफेसर मेकडानल अपने History of Sanscrit Literature में लिखते हैं—"संस्कृत साहित्य के प्रति यूरोप का जो ऋण है, वह निस्संदेह महान् है, इसकी महानता भविष्य में और बढ़ जायगी।"

प्रोफेसर हीरन अपने "Historical Researches"

नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि "भारतीय साहित्य निस्संदेह ऐसे लोगों की उपज है, जिनकी सभ्यता और संस्कृति उच्च श्रेणी की थी, जिनके हृदय सुसंस्कृत थे, जो संसार में सबसे अधिक ज्ञानवान थे।" सर डबल्यू जॉन्स कहते हैं कि "मानवी जीवन इतना दीर्घ नहीं है कि वह हिन्दू साहित्य के अधिकांश भाग से परिचित हो सके" प्रोफेसर मेकडानल अपने History of Sanscrit Literature में कहते हैं कि संस्कृत साहित्य इतना विशाल और महान् है कि वह ग्रीस और रोम के संयुक्त साहित्य से भी आगे बढ़ जाता है। रेव्हरेण्ड वार्ड साहब अपने "History of the East" नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि प्राचीन भारतवासी विशाल विद्वता रखने वाले थे। उन्होंने जितने विभिन्न विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं उनसे प्रतीत होता है कि वे ज्ञान की अनेक शाखाओं में पारङ्गत थे। इन्होंने ज्ञान के विभिन्न विषयों का जिस सुंदरता और गहन विद्वत्ता के साथ प्रति-पादन किया है, उससे ज्ञात होता है कि वे संसार के सारे प्राचीन राष्ट्रों के शिरोमणि और गुरु थे। श्रीमती मेनिंग का कथन है कि प्राचीन भारतवासियों की मस्तिष्क शक्ति उतनी ही विशाल होती थी, जितनी कि मनुष्य की अधिक से अधिक हो सकती है।

संस्कृत-साहित्य

संस्कृत साहित्य के सुविख्यात् यूरोपीय विद्वान् सर डबल्यू जॉन्स अपने "Asiatic Researches" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि संस्कृत भाषा की रचना अपूर्व और आश्चर्यकारक है। वह ग्रीक भाषा से अधिक पूर्ण, लेटिन भाषा से अधिक विस्तृत और दोनों ही से अधिक ओजस्विनी है। प्रोफेसर

मैक्समूलर महोदय अपने Science of language नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि—"संस्कृत भाषाओं की भाषा है, और यह ठीक कहा गया है कि जैसे गणित ज्योतिर्विज्ञान का जीवन है वैसे ही संस्कृत भाषा-विज्ञान की आत्मा है।" प्रोफेसर विल्सन कहते हैं—"हिन्दुओं के पास एक ऐसी भाषा है, जो महान् और उच्च श्रेणी की संस्कारित है।" प्रोफेसर हीरन फरमाते हैं—"हम यह बात निस्संकोच रूप से कह सकते हैं कि संस्कृत सब से अधिक समृद्धिशाली और संस्कारित भाषा है। यह सुधार के सर्वोत्तम शिखर पर पहुँची हुई है। इसमें तत्वज्ञान का उतना ही भण्डार भरा हुआ है जितना कि सुन्दर काव्यों का। सुप्रख्यात जर्मन पण्डित शेगेल अपने History of Sanscrit Literature नामक ग्रन्थ में फरमाते हैं "संस्कृत भाषा वास्तव में सुसंस्कृत और परिपूर्ण है। भाषा सङ्गठन, व्याकरण नियम, और शब्द सम्पति में वह ग्रीक भाषा के समान है पर उसकी रचना ग्रीक भाषा से अधिक प्रमाण बद्ध (Regular) और सरल है। ग्रीक भाषा का घटना-सौन्दर्य्य और थोड़े शब्दों में कथन करने की लेटिन भाषा की विशेषता आदि सब बातें संस्कृत भाषा में विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त मूल धातु का फारसी और जर्मन भाषा की धातुओं से सादृश्य होकर इन दोनों ही का उसमें ओज और उत्साह है। ग्रीक भाषा की शब्द सम्पन्नता, रोमन भाषा की गम्भीरता और ओज, एवं हिब्रू भाषा की दैविक स्फूर्ति आदि सब संस्कृत भाषा में विद्यमान है। प्रमाण बद्ध संगठन और परिपूर्ण विकास की दृष्टि से संस्कृत लेटिनभाषा से श्रेष्ठ निश्चित होती है। मि० टेलर ने सन् १८३४ के रॉयल एशियाटिक जरनल के एक अङ्क में लिखा था, कि हिन्दुस्तान में अनेक राजक्रान्तियाँ और अनेक परिवर्तन

हुए, पर उसमें अब तक संस्कृत जैसी अद्वितीय सम्पन्न (Rich) भाषा मौजूद है। यूरोप में जिन भाषाओं (लेटिन और ग्रीक) को हम "क्लासिकल" मानते हैं उन सबकी जननी संस्कृत है। ग्रीक भाषा की मधुरता और रोमन भाषा के ओजका उद्गम स्थान संस्कृत ही है। यह बात यूरोप को जब प्रथम ही प्रथम ज्ञात हुई, तब वह आश्चर्य से चकित रह गया।

इसी प्रकार और भी कितने ही सुविख्यात् पाश्चात्य विद्वानों ने यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि संसार की जो भाषायें इण्डो यूरोपियन संज्ञा के अंतर्गत आती हैं, उन सब की जननी संस्कृत है। इन भाषाओं के मूल धातु और अन्य शब्द संस्कृत से निकले हैं। इण्डो यूरोपियन भाषाओं का जो भाग सब में एकसा है, वह संस्कृत से निकला है। ईरान की प्राचीन भाषा झेंद की उत्पति संस्कृत से हुई है। यह मत मि० पीकॉक, डाक्टर पिचर्ड, और प्रो० हीरन का है। झेंद भाषा के प्रत्येक दश शब्दों में ६, ७, शब्द संस्कृतोत्पन्न हैं। एक से दस तक के पुराने नाम भी संस्कृत में निकलते हैं। हम नीचे इसके कुछ उदाहरण देते हैं।

संस्कृत	झेंद	ग्रीक	लेटिन
प्रथम	फ्रथेमा	प्रोटा	प्रायमा
द्वितीय	बितीय	डुटेरा	आल्टेरा
तृतीय	थ्रितीय	ट्रिटा	टर्शिया
चतुर्थ	तुरीय	टरटार्टा	क्वार्टा
पंचम	पुग्धा	पेम्पटा	किंटा
षष्ट	त्वत्व	हेक्टा	सेक्सटा
सप्तम्	हप्तथ	हेब्डोमा	सेप्तिमा
अष्टम्	अष्टेमा	ओगडोआ	आक्टेवा

नवम्	नौमा	एनोंटा	नोवा
दशम्	दशेमा	डेकाटा	डेसिमा

और भी कितने ही ऐसे शब्द हैं, जिनकी इन चारों भाषाओं में बहुत कुछ समानता है।

संस्कृत	झेंद	ग्रीक	लैटिन
तिष्ठामि	हिस्टामि	हिस्टेमि	स्टो
तिष्ठति	हिस्टोति	हिस्टेटि	स्टाट
ददामि	दधामि	डिडोमि	डो
ददति	दधैति	डिडोटि	डाट
अस्मि	अहमि	एम्मि	सुम्
अस्ति	अष्टि	एस्टि	एस्ट
भरामि	बरामि	फैरो	फेरो
भरति	बरैति	फैरेई	फर्ट
बहामि	बभ्रामि		

संस्कृत	लेटिन
स्थातुं	स्टेटम्
दातुं	डेटम्
ज्ञातुं	नोटम्
पातुं	पोटम्
एतुं	इटम्
अंतुं	अकृम्
स्वनितुं	सोनिटं
बमितुं	व्होमिटं
पेष्टुं	पिष्टं
जनितुं	जेनिटं

सारांश यह है कि अति प्राचीन काल में संसार की समग्र प्राचीन आर्य जाति संस्कृत भाषा बोलती थी और इसी संस्कृत से सब आर्य भाषाएं निकली हैं, इस बात को डाकूर बालंटाईन, प्रो० बॉप, डुबोईस, मिस कॉर्पेंण्टर, मैक्समूलर आदि कितने ही विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

भारतीयों की असामान्य वाक्शक्ति और उनकी आश्चर्यकारक कल्पना शक्ति के संयोग से संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ है। भारतीयों के अपूर्व बुद्धि वैभव और उनको आध्यात्मिक शक्ति ने संस्कृत को अलौकिक बना दिया है। इस भाषा का विकास सम्पूर्णतया शास्त्रीय नींव पर हुआ है। यह दिव्यभाषा प्रमाण बद्ध होने के कारण संसार की सब नयी पुरानी भाषाओं से अधिक पूर्ण है। इसका "देव वाणी" नाम बिलकुल यथार्थ है।

कई पाश्चात्य पण्डितों का यह कथन है कि भारतवर्ष में संस्कृत कभी बोली जाने वाली भाषा न रही। आज कल की यूरोपीय "एस्परंटो" भाषा की तरह ब्राह्मणों की बनाई हुई यह कृत्रिम भाषा है, पर यह अनुमान गलत है। श्रीयुत् श्यामजी कृष्ण वर्म्मा ने सन् १८८१ में ओरियण्टल कांग्रेस के सामने एक विद्वत्तापूर्ण लेख पढ़ा था, उसमें आपने बड़ी खोज के साथ यह प्रतिपादित किया था कि पाणिनी के काल में सामान्य लोगों के बोलचाल की भाषा संस्कृत थी। कई लोग संस्कृत को मृत भाषा भी कहते हैं पर यह बात भी गलत है। आज भी भारतवर्ष में कश्मीर से लगा कर कन्या कुमारी तक पुराने ढंग के पंडित संस्कृत में बोलते हैं। तथा उसी में अपना पत्र व्यवहार करते हैं। प्रो० मेक्समूलर साहब अपने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखते हैं—"हिन्दुस्थान के भूत

और वर्त्तमान काल में बड़ी संगति और सातथ्य है, यहाँ अनेक धर्मक्रान्तियाँ, राजक्रान्तियाँ और सामाजिक क्रान्तियाँ हो गईं, पर अब भी यहाँ संस्कृत भाषा बोली जाती है। अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजीभाषा के प्रचार होने को एक शताब्दी से अधिक हो गया, तौभी डाण्टे कवि के समय में यूरोप में लेटिन का जितना प्रचार था, उससे यहाँ संस्कृत का अधिक प्रचार है।"

वैदिक-साहित्य

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर का कथन है कि—"वेद हमें वह प्रकाश बतलाता है, जिससे हमें मानव-जाति के आद्यज्ञान का दिग्-दर्शन होता है।" वैदिक-साहित्य में निम्नलिखित बातों का समावेश है। वेद, ब्राह्मण और सूत्र। वेद चार हैं। उनके नाम ये हैं—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद।" इनमें ऋग्वेद और यजुर्वेद का विशेष महत्व है, क्योंकि इनमें आधि-भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक तत्वों का सुन्दर विवेचन है। यह बात कई पाश्चात्य विद्वान् स्वीकार करते हैं कि केवल संस्कृत भाषा ही में नहीं पर संसार के सारे साहित्य में कई दृष्टि से वेदों का सर्वोच्च महत्व है। सर हण्टर महोदय कहते हैं कि—"मानव जाति के ग्रन्थ संग्रह में वेद सबसे प्राचीन है। पूज्य ऋग्वेद का काल अगम्य है।" यजुर्वेद की जब एक प्रति सुप्रख्यात् पाश्चात्य विद्वान् व्हालटेअर को अर्पण की गई थी, तब उन्होंने यह उद्गार निकाले थे कि—"यह देन (Gift) दर असल अमूल्य है। इसके लिये पाश्चात्य राष्ट्रों को भारतवर्ष का कृतज्ञ होना चाहिये।"

ले ऑनडेलवास साहब ने कहा था,—"ग्रीस और रोम

में कोई ऐसा स्मारक नहीं है, जो ऋग्वेद से अधिक मूल्य-वान हो।" प्रोफेसर मेक्समूलर महोदय ने बड़े उत्साह के साथ कहा था—"मानव जाति के साहित्य में वेद सब से अधिक प्राचीन है।" प्रोफ़ेसर हीरन ने भी अपने "Historical Researches" नामक ग्रंथ में इसी प्रकार का मत प्रगट किया है। वेदों के अध्ययन के महत्व के विषय में प्रोफेसर मेक्समूलर साहब लिखते हैं कि—"संसार की किसी भी भाषा के किसी भी ग्रंथ ने जो काम नहीं किया है, वह वेदों ने संसार के इतिहास में किया है। जिन्हें अपने और अपने पूर्वजों के इतिहास का अभिमान है, जिन्हें अपने बौद्धिक विकास की इच्छा है, उन सब को वेदों का अभ्यास करना अति आवश्यक है।" अभी तक हमने वैदिक साहित्य पर साधारण दृष्टि से विचार किया है। अब हम जुदे जुदे वेदों पर थोड़ा सा विवेचन करना चाहते हैं।

ऋग्वेद

यह बात प्रायः सभी विद्वान् लोग स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद न केवल संस्कृत साहित्य में, वरन् जगत् के समग्र साहित्य में सब से प्राचीन ग्रंथ है। वह आर्य धर्म का उद्गम स्थान कहलाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस ग्रंथ का बड़ा महत्व है। ऋग्वेद के रचना-काल सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न २ मत हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मता-नुसार इसका रचना काल ईस्वी सन् पूर्व २००० से ३००० वर्ष है। लोक मान्य तिलक ने अपने जगत् मान्य ग्रंथ ओरायन में (Orion) बड़े प्रबल प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऋग्वेद का रचना काल ईस्वी सन् पूर्व

५००० वर्ष का है। ऋग्वेद में कई सूक्त हैं, जो भिन्न २ ऋषियों के द्वारा रचे गये हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वेद भारतवर्ष के अत्यंत प्राचीन स्तूप (Pyramids) हैं।

ऋग्वेद में १०२५ सूक्त हैं। कहा जाता है कि अन्य ग्रन्थों की तरह काल परिवर्तन से ऋग्वेद में कोई परिवर्तन नहीं हुआ जैसा वह अपने निर्माण के आरम्भ में था ठीक अब भी वैसा ही है।

सामवेद

यह हम प्रथम कह चुके हैं कि सब से प्राचीन वेद ऋग्वेद है। अब सवाल यह उठता है कि ऋग्वेद के बाद कौनसा वेद बना। पुरुष सूक्त से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के बाद सामवेद की सृष्टि हुई। गायन तथा सङ्गीत मनुष्यों को स्वभाव ही से प्रिय होते हैं। गायन यह भक्ति का एक अङ्ग माना गया है। प्राचीन लोगों को ऋग्वेद की ऋचाओं को गाकर देवों की स्तुति करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसी से सामवेद की उत्पत्ति हुई, ऐसा कई विद्वानों का मत है। जहाँ जहाँ वेदों का उल्लेख आया है, वहाँ वहाँ ऋक्-साम-यजु ऐसा ही क्रम दिया है। अमरकोष में भी ऋग्वेद के बाद सामवेद का उल्लेख आया है। हाँ उपनिषदों में ऋग्वेद के वाद यजुर्वेद को लिया है। विद्वानों का मत हैं कि तीनों वेदों का सम्पादन व्यास जी ने किया है। गीता में "वेदान्त सामवेदोस्मि" कह कर श्रीकृष्ण ने सामवेद को बड़ा महत्व दिया है। श्रीयुत चिन्तामणि राव वैद्य का मत यह है कि श्रीकृष्ण को गायन बड़ा प्रिय था। इसलिये उन्होंने सामवेद को बड़ा महत्व दिया। इसके अतिरिक्त छांदोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण को सामवेदी

कथित किया है। सामवेद से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदकाल में भारतीय आर्य्य सुसभ्य थे। क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति पर गायन का विकास सुसभ्य लोगों ही में हो सकता है। सामवेद के गायन बिलकुल शास्त्रीय नींव पर रचे गये हैं। उनमें गायन कला के उच्च विकास का दिग्दर्शन होता है।

छांदोग्योपनिषद् में सामगान की बड़ी प्रशंसा की गई है। सामवेद में "ओ३म्" का बहुत महत्व है। जान पड़ता है उस वक्त "ऊँ" ध्वनि का उपयोग स्वर स्थिर करने में किया जाता था। इसके बाद ओ३म् को परब्रह्म स्वरूप प्राप्त हुआ। सामवेद में ऋग्वेद की जो ऋचाएँ ली गई हैं, वे प्रायः ऋग्वेद के ८ वें और ९ वें मण्डल की हैं। सामवेद में सब मिलाकर १५४९ ऋचाएँ हैं, इनमें बहुत सी ऋग्वेद की हैं। स्वतन्त्र ऋचाएँ केवल ७५ हैं। कई वेदज्ञ पण्डितों का खयाल है कि यजुर्वेद से सामवेद प्राचीन है।

यजुर्वेद

यजुर्वेद के दो भेद हैं। शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। इनमें कृष्ण यजुर्वेद अधिक प्राचीन है। तैत्तिरीय संहिता उसीका अङ्ग विशेष है। शुक्ल यजुर्वेद का दूसरा नाम वाजसनेयिसंहिता है। श्रीयुत चिंतामणिराव वैद्य का अनुमान है कि शुक्ल यजुर्वेद का रचनाकाल ईस्वी सन् पूर्व ३१०० या ३००० वर्ष होगा। यजुर्वेद की उत्पत्ति यजन क्रिया के लिये हुई है। अतएव उसके बहुत से मन्त्र गद्य-मय हैं। कृष्ण यजुर्वेद बहुत सा गद्य-मय है। केवल उसका चौथाई हिस्सा पद्य-मय है। वाजसनेयीसंहिता के कुछ मन्त्र सामवेद की तरह विशिष्ट स्वरों में गाये जाते हैं। ये स्वर सात हैं।

यजुर्वेद में कुरु देश का बहुत वर्णन आया है। इससे कई विद्वानों ने अनुमान किया है कि शायद यजुर्वेद का बहुत सा हिस्सा कुरु देश में तैयार हुआ होगा। कृष्ण यजुर्वेद की कठ और उसकी उपशाखा कापिष्ठल के लोग ग्रीक लोगों के राज्यकाल के समय में पञ्जाब और काश्मीर में बसते थे। कापिष्ठल शाखा के लोग इस वक्त नासिक की ओर अधिक मिलते हैं। इस शाखा का प्राचीन नाम कलाप है। पातञ्जलि के वर्णन से ज्ञात होता है कि उपरोक्त दोनों शाखाएँ उस समय (पातञ्जलि के समय में) उत्तर में बहुत फैली हुई थीं। और इनकी बड़ी ख्याति थी।

यजुर्वेद की भाषा करीब करीब ऋग्वेद की तरह ही है। ऋग्वेद में जहाँ परमात्मा की स्तुति आदि का विधान है, वहाँ यजुर्वेद में यजन क्रिया का प्रधानत्व है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद का निर्माण उपनिषत्काल में हुआ। इसके पहिले ही उसके कुछ मन्त्रों का अस्तित्व था। अथर्ववेद में यज्ञ क्रिया का कुछ भी सम्बन्ध दिखलाई नहीं देता। जारण मारण क्रिया के मंत्र तथा विवाहादि क्रिया के मंत्र उसमें जहाँ तहाँ दिखलाई देते हैं। झिन्द भाषा के "ॲडव्हेन" शब्द से "अथर्व" शब्द का साम्य है।

अथर्ववेद का सम्पादन व्यासजी ने नहीं किया, यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से कही जा सकती है। हाँ, उसके मन्त्रों का उपयोग उसके ग्रन्थ रूप में प्रकट होने के पहिले भी होता था छांदोग्योपनिषद् में इस वेद का उल्लेख है। अतएव यह बात स्पष्ट है कि इसका अस्तित्व छांदोग्योपनिषद् के पहले ही से

था। इस वेद का कब सम्पादन हुआ, इस विषय पर भिन्न २ विद्वानों के भिन्न २ मत हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में इस वेद का बड़ा महत्व है। उनका कथन है कि स्केन्डिनेविहयन लोगों में जारण मारणादि क्रियाओं के जो मन्त्र हैं उनका अथर्ववेद के मन्त्रों से बहुत कुछ अर्थ साम्य दिखलाई पड़ता है।

अथर्ववेद की रचना किसने की और कहाँ हुई, यह बात अभी तक अनिश्चित है। अथर्ववेद में गान्धार और बाल्हीक देशों का उल्लेख है। उसके ९ वें काण्ड में नक्षत्रों के जो नाम दिये गये हैं, उनसे तैतरीय संहिता के नाम अधिक प्राचीन हैं। व्याकरण की दृष्टि से अथर्ववेद की भाषा ऋग्वेद के बाद की और ब्राह्मण ग्रन्थों के पूर्व की मालूम होती है। अथर्ववेद में औषधियों और रोगों के नाम भी हैं। अतएव यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि आयुर्वेद का मूल भी अथर्ववेद में है।

प्राचीन काव्य

जिस प्रकार ज्ञान की विविध शाखाओं में भारतवासियों ने आश्चर्यकारक उन्नति की थी उसी तरह उन्होंने काव्य निर्माण में भी अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था। काउन्ट जानस्टर्जना एक स्थान पर लिखते हैं कि "भारत में काव्य का महान् साम्राज्य है। तत्त्वज्ञान जैसा रुक्ष विषय भी यहां काव्य-मय है।" प्रोफेसर मेक्स साहब कहते हैं कि—"भारत का काव्य भण्डार अगाध है।" प्रोफेसर हीरन का मत है कि हिन्दू लोग स्वभावतया ही काव्य प्रवृत्त हैं। भारत में आश्चर्यकारक मोहकता के साथ काव्य का विकास हुआ, भारत की काव्य सृष्टि अपूर्व मनोमोहक और मानवी भावों से परिपूर्ण है।"

एलफिन्स्टन साहब फरमाते हैं:—"जिन महानुभावों को संस्कृत के वीररस प्रधान काव्यों के अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे बड़े ही आनन्द और हर्षपूर्ण चित्त से उनका गुण वर्णन करते हैं। उन लोगों ने उन काव्यों के लिये बड़े ही प्रशंसा के उद्गार निकाले हैं। भारतीय काव्य कल्पनाशक्ति के अत्युच्च विकास के प्रदर्शक हैं।"

महाकाव्य

प्रोफ़ेसर हीरन महोदय का कथन है कि "काव्य की दृष्टि से हिन्दुओं का साहित्य अत्यन्त समृद्धिशाली है।" प्रो० महोदय का उक्त कथन बिलकुल सही है। यहाँ कई दिव्य और अपूर्व काव्य विद्यमान हैं। इन महाकाव्यों में रामायण और महाभारत विशेष उल्लेखनीय हैं। संसार की किसी भी भाषा में इतने सुन्दर और दिव्य महाकाव्य नहीं हैं।

ग्रीक भाषा में "इलियड और ऑडेसी" नामक दो महा-काव्य हैं। पर ये दोनों उक्त भारतीय काव्यों के सामने ठीक वैसे ही मालूम होते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश के सामने दीपक। यह मत्त हमारा ही नहीं है, कई पाश्चात्य विद्वानों का भी है। प्रोफ़ेसर सर मॉनियर विलियम्स ने Indian Epic Poetry में कहा है—"इन दो ग्रीक महाकाव्यों को किसी तरह रामायण और महाभारत की पंक्ति में नहीं बैठा सकते। इनकी परस्पर तुलना करना ठीक ऐसा ही है जैसे हिमालय के बर्फाच्छादित प्रदेश से निकलने वाली और स्थान स्थान पर अन्य नदियों के संयोग से विशाल रूप धारण करने वाली गंगा, यमुना जैसी महानदियों की तुलना "ऑटिका और थेसाली" प्रान्त के पहाड़ों के छोटे छोटे झरनों के साथ करना।

इन दो महाकाव्यों में रामायण अधिक प्राचीन और महाभारत अधिक विशाल है। मेकडॉनल महोदय महाभारत जैसा विशाल ग्रंथ देख कर दंग रह गये। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि होमर कवि के संसार प्रख्यात काव्य "इलियड" और "ऑडेसी" से महाभारत आठ गुना बड़ा है।

जर्मनी के सुविख्यात शोधक और विद्वान प्रोफ़ेसर शेगेल महाशय का कथन है कि संसार के महाकाव्यों में रामायण सब से अधिक दिव्य है। सर-विलियम जोन्स फरमाते हैं कि संस्कृत साहित्य में निस्संदेह रामायण सर्वोत्तम रत्न है। सर डबल्यू जोन्स लिखते हैं कि रामायण का महाकाव्य राम की कथा पर रचा गया है। यह काव्य इतना सुन्दर और दिव्य है कि संसार का कोई महाकाव्य इसकी बराबरी नहीं कर सकता। सर मोनियर विलियम्स फरमाते हैं कि संस्कृत-साहित्य में रामायण के समान मोहक काव्य दूसरा कोई नहीं है। भाषा-सम्बन्धी सरलता, और निर्दोषता, शुद्ध काव्य भावना की सुन्दर छटा, वीर रसात्मक प्रसंग का अक्षरशः वर्णन, सृष्टि के अत्यन्त भव्य दृश्यों का सुंदर चित्र; मानवी चित्त में होने वाले सूक्ष्म युद्धों का यथार्थ विवेचन आदि कई बातों की दृष्टि से रामायण इतना महत्त्वपूर्ण और सुन्दर ग्रन्थ है कि संसार के किसी भी राष्ट्र के किसी भी युग का काव्य इसकी बराबरी नहीं कर सकता। रामायण उस सुन्दर और आनंददायक बाटिका के समान है जो उपदेश रूपी वृक्षों से और त्रिकालाबाधित सत्य तत्त्व रूपी पुष्पों से लबालब भरी हुई है। इसमें राम चरित्र जिस उत्तमता और भव्यता से चित्रित किया गया है, वह काव्य सृष्टि में एक दम ही अपूर्व है। राम चरित्र में आरम्भ से लगा कर अंत तक जैसी निः-

स्वार्थता और दिव्यता का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है, उससे चित्त मुग्ध हो जाता है। राम के दैवी कृत्यों से अपने आप यह असर होने लगता है कि राम दिव्यांशी महानुभाव थे। उच्च आदर्शों के प्रत्यक्ष अवतार थे। राम का शौर्य्य, उनकी निर्लोभता, उनका औदार्य्य, उनकी पितृभक्ति, उनका विमल पत्नी प्रेम, उनका बन्धु प्रेम, उनकी प्रजाहित परायणता, उनका क्रोधाभाव आदि गुणों को कवि ने जिस खूबी और सुन्दरता के साथ चित्रित किया है। उसे देख कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। इससे भी अधिक उज्वल चरित्र रामायण में पतिपरायणा, विशुद्ध हृदया, सती सीता का चित्रित किया गया है।

रामायण में सीता के उच्च आदर्श अद्वितीय पति निष्ठा, अमर्य्यादित प्रेम की जो अत्युच्च कल्पना प्रकट की गई है, संसार के किसी भी देश के साहित्य में वैसी दिव्य कल्पना आप को नहीं मिलेगी। हमारी इस बात को, प्रोफेसर डाऊडन, प्रिन्सिपल ग्रीफिथ, मिस मेरी स्कॉट आदि विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। उन्होंने अपने ग्रंथों में संस्कृत भाषा के प्रभुत्व, कवि के अपूर्व रचना चातुर्य्य, अप्रतिम शब्द, चित्र कौशल और गूढ़-विज्ञान को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

प्रोफ़ेसर डाऊडन लिखते हैं कि होमर के काव्य रामायण के सामने तुच्छ हैं। रामायण में राम का जैसा चरित्र चित्रित किया गया है, वह एशिया और यूरोप के आधुनिक और प्राचीन साहित्य में अद्वितीय और अपूर्व है। प्रिन्सिपल ग्रिफिथ साहब ने सन् १८८३ के दिसम्बर मास में भारतवर्ष के सुविख्यात् विज्ञान वेत्ता श्रीमान् पी. सी. रॉय को एक पत्र

लिखा था। उसमें उन्होंने आधुनिक और प्राचीन संसार को इस बात का चैलेञ्ज दिया था कि वह अपने साहित्य में ऐसा पूर्ण दिव्य चरित्र बतलावें जैसा कि रामायण में राम का है। इसके आगे चल कर फिर आप ने लिखा है कि इस पवित्र महाकाव्य में धर्म, सदाचार और काव्य का जैसा आश्चर्य कारक संयोग हुआ है वैसा मानवीय अंतकरण को ऊंचा उठाने वाला संयोग संसार के किसी भी महाकाव्य में नहीं हुआ। श्रीमती मिस मेरी स्कॉट कहती है कि "रामायण काव्यमय है और सीता सती जाति का सर्वोच्च और मधुर आदर्श है, मैंने कहीं भी स्त्री जाति का इतना उच्च आदर्श नहीं देखा जैसा कि सीता का रामायण में कथित किया गया है" इसके विषय में और अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इस दिव्य महाकाव्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। स्थानाभाव के कारण उन सब का उल्लेख करना असम्भव है।

महाभारत

रामायण की तरह महाभारत ने भी पाश्चात्य संसार के विद्वानों को आश्चर्य में डाल दिया है। प्रोफेसर हीरन महोदय लिखते हैं कि संसार में महाभारत जैसा दिव्य और समृद्धि-शाली काव्य भारत के सिवा किसी दूसरे देश ने उत्पन्न नहीं किया है। अमेरिका के डाक्टर हैसलर महोदय ने अपनी ओज-पूर्ण भाषा में महाभारत की प्रशंसा करते हुए लिखा है "मुझे अपने सारे जीवन के अनुभव में ऐसा महाकाव्य देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। मैं निःसंकोच यह कहूँगा कि यह महाकाव्य न केवल बुद्धिमानों की उपज है, वरन् ऐसे महा-पुरुषों की उपज है जिन्हें प्राचीन भारत में ईश्वरीय प्रेरणा हुई

थी, मैं दीर्घ काल से इस ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा हूँ, और इससे मैंने कई हजार नोट भी लिखे हैं। महाभारत ने मानों मेरे सामने एक नई सृष्टि उपस्थित कर दी है। मैं महाभारत के अगाध ज्ञान, सत्य आदि कई उच्च गुणों से आश्चर्यचकित हुआ हूँ। मुझे इस महाकाव्य में परमात्मा के उच्च ज्ञान का दिव्य सत्य मिला है जो मानवीय जीवन का सर्वोत्तम आदर्श है।"

सन् १८८४ के ३१ दिसम्बर के स्पेक्टेटर के अङ्क में किसी यूरोपीय विद्वान ने महाभारत के सम्बन्ध में एक विस्तृत लेख लिखा था। उसमें उन्होंने महाभारत की प्रशंसा करते हुए यह विचार प्रकट किये थे—"महाभारत वास्तव में धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक और दर्शन शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का महाकाव्य है। इस महाकाव्य से हमें न केवल तीन हजार वर्ष पूर्व के भारतीय जीवन, रीति रिवाज, राजनीतिधर्म और दर्शन शास्त्र ही का ज्ञान होता है। वरन् काव्य की उत्कृष्ट सृष्टि का तथा गूढ़ातिगूढ़ और दिव्यातिदिव्य विचारों का भी पता चलता है। संसार को इस महाकाव्य ने जैसे दिव्य और महान् कार्य प्रदान किये हैं, वह सभ्यता के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे। पेरिस के प्रो० सिलिवियन लैव्ही ने सन् १८८८ में श्रीमान् प्रफुल्ल चन्द्र राय को एक पत्र भेजा था, उसमें उन्होंने लिखा था—"संसार के महाकाव्यों में महाभारत केवल सब से बड़ा ही नहीं है वरन् वह सब से अधिक दिव्य भी है। इसकी मनोहर काव्यमय भाषा में नीति और सदाचार के बड़े ही दिव्य आदर्श भरे हुए हैं" सन् १८८६ में सेन्ट हेलर बार्थोलमी ने Journal Des Savantes नामक फ्रेन्च भाषा के एक मासिक पत्र में एक लेख लिखा था। उसमें

आपने महाभारत के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—"सन् १८८५ में मिस्टर बिलकिन्स ने भगवद्गीता के रूप में महाभारत के एक अंश को प्रकाशित किया था। तब संसार उसके दिव्य प्रकाश को देख कर चकाचौंध हो गया था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि महाभारत के सम्माननीय कर्त्ता व्यास जी होमर कवि से महान् थे। इस बात का भी प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है कि प्राचीन ग्रीस से प्राचीन भारत बहुत ऊँचा था। इसके साथ यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होना चाहिये कि महाभारत संसार का सब से महान् और दिव्य स्मारक है और मानवीय प्रतिभा के सर्वोच्च विकास का यह आदर्श काव्य है।" पेरिस के सुप्रख्यात् विद्वान् बार्था साहब ने अपनी फ्रेन्च भाषा में संसार के भिन्न भिन्न धर्मों का एक इतिहास लिखा है। उसमें आपने महाभारत की बड़ी प्रशंसा की है। आपने लिखा है कि "महाभारत के कुछ अंशों के लिए यह निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि वे मानवीय प्रतिभा के सर्वोत्तम आविष्कार हैं। महाभारत में पाचों पाण्डवों का, श्रीकृष्ण का, दुर्योधन, द्रोण, भीष्म और कर्ण का जैसा सुन्दर और काव्य-मय चित्र खींचा गया है, वह एकदम ही अपूर्व है। कवित्व की ऊँची प्रतिभा तथा मनुष्य जीवन में होने वाले मानसिक उत्थान पतन का सूक्ष्म विश्लेषण इन चरित्रों के चित्रण में किया गया है। इस बात को प्रोफेसर विलसन भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत के प्राकृतिक सौन्दर्य्य को चित्रित करने में जो कमाल किया गया है वह भी संसार के साहित्य में एक अद्भुत वस्तु है।" प्रोफेसर मोनियर विलियम ने अपने "Epic India" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि होमर काव्य में कोई भी

ऐसा अंश नहीं है जो महाभारत और रामायण के सौन्दर्य्य-मय वर्णन की तुलना कर सके।" एक दूसरे यूरोपियन विद्वान् का कथन है कि महाभारत न केवल कवित्व का अत्युच्च विकास ही है वरन् मानवीय प्रकृति का अत्यन्त गहन और सूक्ष्म अध्ययन भी है।

विकासवाद के जनक संसार प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन महोदय के साथी डाक्टर वॉलेस अपने एक पत्र में लिखते हैं कि—"मैंने हाल ही में महाभारत का अध्ययन समाप्त किया है। सब ही दृष्टि से यह महाकवि होमर के "इलियड" नामक ग्रन्थ से श्रेष्ठ है।" सर मॉनियर विलियम्स महोदय का कथन है कि महाभारत और रामायण में धर्म और सामाजिक सुख का जो सुन्दर चित्र खींचा गया है उससे अधिक सुन्दर कुछ भी नहीं हो सकता। मानवीय भावनाओं का जो अति उत्कृष्ट चित्र इनमें खींचा गया है, वह संसार के साहित्य में एक अपूर्व चीज है। इस प्रकार और भी अनेक विद्वानों ने रामायण और महाभारत के उत्कृष्ट काव्यों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। संस्कृत साहित्य में और भी कई उत्कृष्ट काव्य हैं। जिनकी कई पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी सराहना की है।

प्राचीन भारतवासियों का नाट्य साहित्य

कई आधुनिक विद्वानों ने यह मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है कि संसार में सब से पहिले भारतवर्ष ही में नाट्य कला का विकास हुआ, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भरत मुनि संस्कृत नाट्यशास्त्र के मूल जनक थे। महाभारत में भी 'नाटक' शब्द कई जगह व्यवहृत हुआ है और उसमें इस बात का विवेचन किया गया है कि नाटककार कौन से

लोकों में जाते हैं। पाणिनी के सुप्रख्यात व्याकरण अष्टाध्यायी पर महर्षि पातञ्जलि का महाभाष्य है। इस महत् ग्रन्थ का काल श्रीयुत चिंतामणि राव वैद्य के मतानुसार ईस्वी सन् पूर्व १५० वर्ष है। इस ग्रंथ में "कंसवध" नामक एक नाटक का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महाभारत काल में भारतवर्ष में नाट्य कला का अस्तित्व था।

इसके पश्चात् भारतवर्ष ने नाट्यकला में जो अति आश्चर्य कारक प्रगति की थी, उसे देख कर पाश्चात्य विद्वान् आज भी मुग्ध हो रहे हैं। प्रोफेसर विलसन महोदय का कथन है कि यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि भारतवर्ष के जो प्राचीन नाटक प्राप्त हुए हैं, वे अत्यन्त उच्च श्रेणी के हैं। उनमें परिपूर्ण विशुद्धता और पवित्रता का आदर्श समाया हुआ है। प्रोफेसर मेकडॉनल महोदय अपनी History of Sanscrit Literature में कहते हैं। "भारतवर्ष में नाट्यशास्त्र का विविधता पूर्ण विकास हुआ था, प्रोफेसर हीरन महोदय प्राचीन ग्रीक नाटकों की अपेक्षा भारत के सुखान्त नाटकों को श्रेष्ठ समझते हैं। प्रो० विलसन महोदय भारतीय नाटकों में प्रेम, सहृदयता, करुणा, वीरता और शान्ति का जैसा उच्च आदर्श पाते हैं, वैसा संसार के किसी नाटक में नहीं पाते। उन्होंने यह मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है कि भारतीय नाटकों में कई ऐसी विशेषतायें पाई जाती हैं जो ग्रीक नाटकों में नहीं थी। मिसेस मेनिंग कहती हैं कि संसार के किसी भी राष्ट्र के साहित्य में प्रेम का इतना उत्कृष्ट वर्णन नहीं किया गया है जितना भारतीय नाटकों में है।

भारत में अनेक नाटककार हुए हैं जिनके ग्रंथ अब भी हमारे हृदय को सुख, शान्ति, करुणा आदि उच्च रसों झरने में सुख

स्नान करवाने में समर्थ होते हैं। उन सब का विस्तृत वर्णन करने में स्थानाभाव के कारण हम असमर्थ हैं। हम यहाँ केवल महाकवि कालिदास, भवभूति आदि दो एक उच्च श्रेणी के कवियों के नाटकों ही पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं।

श्रीमती मेनिंग महोदया ने Ancient Mediaevel India नामक ग्रंथ में लिखा है कालिदास और भवभूति संसार के सर्व शिरोमणि और सर्वोत्कृष्ट नाटककारों में से थे। कालिदास महाराजा विक्रमादित्य के राज्यकाल में हुए, और महाकवि भवभूति इनके कई शताब्दियों के बाद हुए। महाकवि कालिदास का सर्वोत्तम नाटक शकुन्तला है। उसे पढ़ते हुए सुप्रख्यात जर्मन विद्वान् गेटे महोदय इतने पुलकित और गद्गद् हो गए कि वे आनन्द से नाचने लग गये थे। उस काव्यामृत के आनन्द सरोवर में वे इतने लीन हो गए थे कि कुछ समय तक तो वे अपने आप को भूल गये थे उस समय उनके मुँह से ये वचन निकल पड़े थे।

Wouldst thou see springs blossems
and the fruits of its decline.
Wouldst thou see by what the souls
enraptured feasted fed.
Wouldst thou have this earth and
heaven in one soie name combine.
I name thee oh shakuntala! and
all at once is side.

इतना ही नहीं महाकवि गेटी ने शकुन्तला नाटक के शोक और प्रेमपर एक काव्य तक रच डाला, प्रोफेसर हीरन महोदय

"Historical Researches नामक ग्रंथ में फरमाते हैं कि वास्तव में कालिदास संसार के उन महाकवियों में थे जिन्होंने न केवल अपने देश का मस्तक ऊँचा किया, वरन् सारी सभ्य मनुष्य जाति के गौरव को बढ़ाया।

जर्मनी के एक प्रख्यात विद्वान् शकुंतला नाटक को मानव जाति के अत्युच्च विकास का अद्भुत आविष्कार समझते हैं प्रोफेसर महोदय अपने History of Sanscrit Literature नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि कालिदास और भवभूति के काव्यों में जैसी उच्च श्रेणी की भाषा और भाव सौन्दर्य्य है तथा उसमें मानवी प्रकृति का जैसा सूक्ष्म अध्ययन है उससे अधिक किसी भी ग्रन्थ में कल्पना करना असम्भव है। प्रोफेसर मेकडॉनल महोदय अपने 'History of Sanscrit Literature' नामक ग्रंथ में लिखते हैं "दर असल शकुन्तला आर्य्य प्रतिभा का ऐसा अपूर्व प्रकाश है कि इस बीसवीं सदी का सभ्य संसार भी उसे देख कर चकाचौंध हो जाता है। कालिदास ने इस ग्रंथ रत्न को रच कर न केवल भारतवर्ष ही को वरन् सारे सहृदय संसार को अपने गहरे ऋण में बाँध लिया है। नाटक और काव्य की सभी विशेषताएँ इस अपूर्व ग्रन्थ में हैं। संसार की प्रायः सब सुसभ्य और उन्नत भाषाओं में इस ग्रंथ रत्न के अनुवाद हो चुके हैं।

शकुंतला के बाद विक्रमोर्वशी नाटक का नंबर आता है। प्रोफेसर विलसन ने दोनों ही नाटकों के वर्णन सौन्दर्य, भावना मार्दव, कोमलविचार, और कवित्त के संबन्ध में अत्यन्त साम्य भाव प्रकट किया है। दर असल यह नाटक भी नाट्यशास्त्र के उच्च विकास का द्योतक है।

अब तक महाकवि कालिदास और उनके शकुन्तला नाटक

के विषय में कहा गया है। अब भारत के एक दूसरे महाकवि भवभूति के दर्शन कीजिए। "उत्तर राम चरित्र और मालती-माधव" यह दोनों महाकवि भवभूति के प्रधान नाटक हैं। उत्तर राम चरित्र में करुणा रस का मानो समुद्र लहरा रहा है। कई विद्वानों का कथन है कि करुणा रस के वर्णन में उत्तर रामचरित्र का संस्कृत के अन्य सब नाटकों में सर्वोपरि स्थान है। इस अपूर्व ग्रन्थ रत्न में कुसुमकोमल भावनाओं का जैसा दिव्य वर्णन है, संसार के किसी साहित्य के किसी भी ग्रन्थ में वैसा मिलना दुसाध्य है। राम और सीता के युगल जीवन क्रम को जिस अद्भुत काव्यकुशलता और तेजस्विता से कवि ने वर्णन किया है। उससे अधिक वर्णन करना काव्य कारी-गरों की शक्ति के बाहर का काम है। अब तक हमने दो श्रेष्ठ कवियों के दो नाटकों के उत्तमोत्तम गुणों का वर्णन किया। अब हम थोड़े से ऐसे नाटकों का नामोल्लेख करते हैं। जिनमें हिन्दुओं के तत्कालीन, आचार व्यवहार तथा राजकीय भाव-नाओं का प्रतिबिम्ब है। इनमें हम विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक को प्रधानता देंगे। यह नाटक कूट नीति की मानो खान है। राज दर्बार में कैसे कैसे षडयन्त्रों की सृष्टि होती है। मनुष्य प्रकृति कैसे कैसे विभिन्न खेल खेलती है। इसका इसमें अति उत्कृष्ट चित्र खींचा गया है। इसी तरह संस्कृत में मृच्छ-कटिक, प्रबोध चन्द्रोदय, वेणीसंहार आदि अनेक उत्तमोत्तम नाटक हैं। उन सब का इस छोटे से निबन्ध में विवेचन करना असम्भव है।

पांचवां अध्याय।

प्राचीन भारत का लिपि तत्व

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सृष्टि मंडल पर सबसे पहिले सर्वोच्च श्रेणी की सभ्यता का विकास इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में ही हुआ था। यहीं से सभ्यता का श्रोत चारों ओर बहा था। यहीं से सब से प्रथम सभ्यता और संस्कृति का भानु उदय हुआ था, और उसने सारे जगत को प्रकाशमान किया था। पुरातत्ववेत्ताओं ने वर्षों के गंभीर अन्वेषण के बाद यह प्रकट किया है कि हिमप्रलय से भी पहले आर्य सभ्यता का बीज अङ्कुरित हुआ था। आर्यों ने हज़ारों वर्षों के पहले मानवी सभ्यता का जितना विकास किया था, संसार की किसी भी जाति ने उतना विकास नहीं किया। उन्होंने जिस प्रकार तत्त्वज्ञान, दर्शनशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, आदि अनेक विद्याओं में पारदर्शिता प्राप्त की थी, ठीक वैसे ही उन्होंने उस अतीत प्राचीन युग में लिपितत्त्व का भी आविष्कार कर लिया था। कितने ही पुरातत्त्ववेत्ताओं ने गम्भीर अन्वेषण के बाद यह प्रकट किया है कि हजारों वर्षों के पहले वैदिक काल में भी भारतवर्ष में लेखनकला-मौजूद थी। यहाँ हम इन्हीं पुरातत्त्व वेत्ताओं के अन्वेषण के प्रकाश में भारतीय लिपि-तत्त्व की प्राचीनता के विषय में कुछ समालोचनात्मक मीमांसा करना चाहते हैं।

संसार के अनेक सुप्रख्यात विद्वान् दीर्घ अन्वेषण के बाद इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि संसार के समग्र साहित्य में

ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। पारसियों के अति प्राचीन ग्रन्थ "अवस्था" से भी यही बात प्रकट होती है। "अवस्था" में कई स्थानों पर ऋग्वेद की छाया ज्यों की त्यों पाई जाती है। इससे प्रकट होता है कि ऋग्वेद का रचना काल कम से कम ईस्वी सन के छः सात हजार वर्ष पहिले का है। लोकमान्य तिलक ने अपने संसारमान्य ग्रन्थ मृगशीर्ष (Orion) में अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद का काल कम से कम दश हजार वर्ष प्राचीन होना चाहिये। संसार के इसी प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के अवलोकन से प्रतीत होता है कि उस अतीत युग में अर्थात् ऋग्वेद के निर्माण काल में आर्य्य जाति लिपि तत्व से परिचित थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है:—

"सहस्रं मे ददतो अष्टकर्णथः" (ऋग्वेद सं० १०–६२–७)

यहाँ पर "अष्टकर्णी" शब्द का अर्थ यह है कि जिसके कान पर आठ के अङ्क का चिन्ह हो। वैदिक काल में जुआ खेलने का प्रचार बहुत था। एक प्रकार के खेल में चार पासे होते थे, जिनके नाम कृत, त्रेता, द्वापर, और कलि थे और जिन पर क्रमशः ४, ३, २, १, के अङ्क या चिन्ह खुदे रहते थे। चार के अंकवाला पासा कृत कहलाता था यह जिताने वाला पासा होता था जैसा कि अथर्ववेद के इस सूत्र से ज्ञात होता है "कृत में दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहितः" (अथर्ववेद सं० ७–५०) ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त जुआरी के विलाप का है जिसमें वह कहता है कि "एक पर पासे के कारण मैंने अपनी पतिव्रता स्त्री को खो दी।" यहाँ एक पर का अर्थ है जिस पर एक का चिन्ह बना हुआ हो।

यजुर्वेद संहिता के पुरुष मेध प्रकरण में जहाँ भिन्न भिन्न पेशे वाले बहुत से पुरुष गिनाये हैं, वहाँ, "गणक" का भी

उल्लेख है। गणक शब्द का अर्थ है, गणित करनेवाला। इस शब्द का अर्थ ज्योतिषि भी होता है। इसी संहिता में एक, दश (१०) शत, (१००) सहस्र, (१०००) अयुत, (१००००) नियुत, (१०००००) प्रयुत, (१००००००) अर्बुद, (१०००००००) न्यबुर्द, (१०००, ०००, ००), समुद्र, (१०००, ०००, ०००,) मध्य, (१००-०००००००००) अन्त, (१०००, ०००, ०००,०००), और परार्ध तक की संख्या दी है ठीक यही संख्या तैत्तिरीय संहिता में भी मिलती है।

शतपथ ब्राह्मण के अग्निचयन प्रकरण में हिसाब लगाया है कि ऋग्वेद के अक्षरों में १२००० बृहति (३६ अक्षरों का छंद) प्रजापति ने बनाये। अर्थात् ऋग्वेद के कुल अक्षर (१२००० × ३६ =) ४३२००० अक्षर हुए।

(१) ऋक् संहिता में कहा है:—

"उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन् न शृणो त्येनाम्
उतोत्वस्मै तनवं विसस्रे जायेवपत्य उशति सुवासाः ॥"

इसका भावार्थ यह है कि "कोई कोई लोग वाक्य को देख कर भी नहीं देखते हैं। फिर दूसरे लोग वाक्य सुन कर भी कान नहीं देते हैं। कई लोगों के सुनने पर भी वाक्य बेसुने रह जाते हैं। अर्थात् सुन कर भी वे नहीं समझ सकते हैं।" ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में (३।३।४) में लिखा है:—

"तेवाइमे इतरे छन्दसी गायत्री मध्यवदेतां वितं नवाक्षराण्य-नुपर्यागुरिति नेत्यब्रवीद् गायत्री यथा वित्तमेव न इति ते देवेषु प्रश्न मैं तांते देवा अब्रुवन् यथावित्त मेवन इति तस्माद्धाथेतर्हि वित्यां व्याहुर्य्येथावित्त मेवन इति ततो अष्टाक्षरा गायत्र्य भवत्र्यक्षरात्रिष्टुवेकाक्षरा जगति" अर्थात् उन दूसरे दो छन्दों ने (त्रिष्टुप और जगति ने) गायत्री के पास पहुँच कर कहा

कि "नहीं, हममें जिसने जो पाया है, वही उसका रहे। इसके बाद उन्होंने देवताओं से जाकर प्रश्न किया। देवताओं ने भी यही बात कही कि "तुममें जिसने जो पाया है वही उसी का रहे। उस समय गायत्री के आठ अक्षर, त्रिष्टुम के तीन अक्षर और जगती का एक अक्षर हुवा।" ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है:–

"अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीतः द्वयोर्वा
अनुष्टुभोश्चतु षष्ठि रक्षराणि।"

अर्थात् जो स्वर्ग जाने की इच्छा रखता हो उसे दो अनुष्टुभ व्यवहार करना चाहिये। दो अनुष्टुभ में ६४ अक्षर होते हैं। इसी ब्राह्मण ग्रंथ में एक स्थान में लिखा है:—

"तेभ्योऽभितस्तेभ्यश्रयोवर्णा अजायन्त अकारः उकारः मकारः इति तानेकधा समभवत् तदेतत ओमिति।"

अर्थात् उसके भीतर तीन वर्ण उत्पन्न हुए, अकार, उकार और मकार। इन्हीं तीनों के एक में मिलने से ॐ शब्द बनता है। शुक्ल यजुर्वेद में (१५।४) में लिखा है:—

"अक्षर पंक्तिश्छन्दः पद पंक्तिश्छन्दः
विष्टार पंक्ति श्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्दः।"

वेद भाष्यकार महीधर ने क्षुरोभ्रजश्छन्द का अर्थ यों किया है:-"क्षुर विलेखन-खनयो क्षुरति विलिखति व्याप्नोति सर्वमिति" यानी क्षुर का अर्थ विलखन और खनन है। विलेखन और खनन द्वारा जो छन्द प्रकाशित होता है उसे क्षुरभ्रजश्छन्द कहते हैं। उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक युग में अंकों और अक्षरों का आविर्भाव हो चुका था। अर्थात् उस समय आर्य लोग लेखनकला से परिचित हो चुके थे। अब वेद के बाद के ग्रन्थों के इस सम्बन्ध में प्रमाण देखिये।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के इतिहास लेखक सुप्रख्यात

ज्योतिर्विद् श्रीयुत् शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अनेक ज्योतिष प्रमाण उद्धृत कर दिखलाया है कि शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में आज से कोई पाँच हजार पहिले के ज्योतिषशास्त्र का विवरण है। शतपथ ब्राह्मण से भी बहुत पहले यजुः संहिता और उससे बहुत पहिले ऋक संहिता प्रकाशित हुई थी। सुप्रख्यात महाराष्ट्र पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक ने तैत्तिरीय संहिता की आलोचना कर दिखलाया है कि वासन्त विषुवदिन मृगशिरा संक्रमित होने के समय अर्थात् ईस्वी सन के चार हजार वर्ष पहले आर्य जाति ज्योतिष की आलोचना करती थी और ऋक् संहिता का प्राचीनतर ज्योतिषांश देखने से ज्ञात होता है कि ईस्वी सन के छः हजार वर्ष पहिले आर्य्यों ने कितने ही ज्योतिषि विषय लिपिबद्ध किये थे। यह बात केवल महामति तिलक ने ही नहीं कही है, किन्तु प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी और पुरातत्वविद् जेकोबीने वेद के ज्योतिषांश की आलोचना कर यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि आर्य्यों ने ईस्वी सन से पाँच हजार वर्ष पहले ध्रुव नक्षत्र का आविष्कार किया था।

उक्त उद्धृत प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद-संहिता और उसके अन्तर्गत ज्योतिष सिद्धान्त का संरक्षण करने के लिये कम से कम ईस्वी सन के पांच हजार वर्ष पहले वैदिक वर्णमाला और लिपि पद्धति चल पड़ी थी। ज्योतिशास्त्र में बिना अङ्कों और गणित के काम चलही नहीं सकता, ऐसी दशा में यह निश्चित है कि ज्योतिषशास्त्र के आविष्कार के पहिले लिपि तत्त्व का आविष्कार हो चुका था।

पाणिनी के समय में लेखन-कला

अष्टाध्यायी के रचयिता सुविख्यात वैयाकरणी पाणिनि के

समय में लेखन कला मौजूद थी। यह बात अष्टाध्यायी में आये हुए लिपि, लिवि, लिपिकर, ग्रन्थ, वर्ण, अक्षर आदि शब्दों से स्पष्टतया प्रकट होती है। इतना ही नहीं पाणिनि के समय में "शिशुक्रन्दीय" नामक एक बालबोध पुस्तक भी प्रचलित थी।

पाणिनि के काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। पाश्चात्य पण्डित पाणिनि के समय को ईसवी सन के पूर्व ३०० वर्ष बतलाते हैं, पर श्रीयुत् चिंतामण राव वैद्य ने अकाट्य युक्तियों द्वारा पाश्चात्य पण्डितों का मत खण्डन कर पाणिनि का समय ईसवी सन के पूर्व ८०० वर्ष बतलाया है। इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनि के समय में अर्थात् ईसवी सन् के ८०० वर्ष पहले भारतवर्ष में लेखन कला का अस्तित्व था।

पाणिनि से पूर्व यास्कमुनि हुए। उन्होंने निरुक्त लिखा। इसमें औदुंबरायण, क्रौष्टुकी, शतबलाक्ष, मौद्गल्य, शाकपूणि, शाकटायन, स्थौलाष्टीवी, आग्रायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, गार्ग्य, गालव, शाकल्य आदि कई वैयाकरणों और निरुक्तकारों के नामों का उल्लेख किया गया है। इससे मालूम होता है कि पाणिनि और यास्क के पहले व्याकरण और निरुक्त के सम्बन्ध में बहुत से ग्रन्थ बन चुके थे जो अति अलभ्य हैं। इससे प्रकट होता है कि पाणिनि के पूर्व भारतवर्ष में लेखन कला का अस्तित्व था। इसके अतिरिक्त निरुक्तकार यास्क ने एक जगह लिखा है :—

"साक्षातकृत धर्म्मणि ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्यऽसाक्षात कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुपदेशायगायन्तोऽवर

विल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थ समाम्नासिषुर्वेदञ्जवेदाङ्गानिच (निरुक्त १-६५)

अर्थात् जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार या दर्शन लाभ किया है वेही सब ऋषि हैं। तथा जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार लाभ नहीं किया प्रत्युत श्रुतर्षिवालों को उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये वे श्रुतर्षि हैं। श्रुतर्षियों ने उपाध्याय रूप से उपदेश द्वारा "ग्रन्थतः" और "अर्थतः" मन्त्रों की शिक्षा प्रदान की थी। उन्होंने फिर शिष्य को अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ देख कर और इससे खिन्न होकर समझाने के लिये यह ग्रन्थ (निघण्टु) वेद और वेदाङ्ग संङ्कलन किये। निरुक्त टीकाकार दुर्गाचार्य ने लिखा है—"सुख ग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः" अर्थात् सहज बोध्य होने के लिये व्यास द्वारा वेद सङ्कलन कराये।

महाभारत के समय में लेखनकला

महाभारत और रामायण में भी कई स्थानों पर ऐसे उल्लेख आये हैं जिनसे प्रकट होता है कि उस समय भारतवर्ष में लेखन कला का अस्तित्व था। महाभारत के शान्ति पर्व में एक स्थान पर लिखा है—

"यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्र निदर्शनं।
एवमेतद्यथायैतन्निगृहणाति तथा भवान्॥
धार्य्यतेहित्वयाग्रन्थ उभयोवेदशास्त्रयाः।
न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथा तत्वं नरेश्वर॥
योहि वेदेच शास्त्रे च ग्रन्थ धारण तत्परः।
भारं स बहते तस्य ग्रन्थ व्यर्थ न वेति यः॥
यस्तु ग्रन्थार्थं तत्वज्ञो नास्यग्रन्थागमोवृथा।"

(वशिष्ठ जनक को सम्बोधन करके कहते हैं) आपने वेद और धर्मशास्त्र का जो निदर्शन किया वह ठीक नहीं है। आपने

वेद और धर्मशास्त्र ग्रन्थ पढ़े किन्तु उनका यथावत अर्थ न समझ सके। जो व्यक्ति वेद और धर्मशास्त्र में अनुरक्त होकर भी उनका तत्व न समझ सका हो, उसको ग्रन्थाध्ययन किसी काम का नहीं। जो ग्रन्थ का अर्थ भली भाँति ग्रहण न कर सका, उसके लिये ग्रन्थ भार रूप ही हैं। जो यथार्थ रूप से ग्रन्थ का अर्थ लगा सकता है उसका अभ्यास विफल नहीं होता।

वाल्मीकि रामायण पढ़ने से ज्ञात होता है कि—सर्वशास्त्रज्ञ महावीर हनुमान ने अशोक वन में पहुँच कर सीता को देखा। जब वे अपना और राम का परिचय देकर भी सीता का सन्देह दूर न कर सके। तब उन्होंने सीता को विश्वास दिलाने के लिये राम नामाङ्कित एक अँगूठी निकाल कर दिखलाई थी। इसका उल्लेख वाल्मीकि ने सुन्दरकाण्ड में इस प्रकार किया है।

"वानरोऽहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः।
रामनामाङ्कितञ्चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥

बौद्धकाल में लेखन कला

ईसवी सन् के पूर्व की छठी शताब्दि में भगवान् बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ था। उनके निर्वाण प्राप्त होने के कुछ ही पीछे उनके धर्मोपदेशों की रक्षा करने के लिये उनके प्रधान प्रधान शिष्यों ने इकट्ठे होकर पहला बौद्ध खण्ड आवाहन किया था। सुप्रसिद्ध पण्डित फूको (Foucaw) और राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने ललित विस्तर नामक अति प्रख्यात बौद्ध ग्रन्थ की समालोचना करते हुए लिखा था कि ललित विस्तर में जो गाथा है वह ईसवी सन से पूर्व ६ ठी शताब्दि में लिखी गई थी। उन गाथाओं में एक जगह लिखा है-

"सा गाथ लेख लिखिते गुण अर्थ युक्ता
या कन्य ईदृश भवेन्मम तां वरेथा"

(ललित वि० १२ अ०)

(शाक्य सिंह ने कहा) "जो कन्या गाथालेख लिखने और गाथा का अर्थ समझने में चतुर होगी उससे मैं विवाह करूँगा।

उपरोक्त गाथा से क्या यह प्रकट नहीं होता है कि जिस देश में ढाई हजार वर्ष पहले की कन्याएँ लिखने में निपुण न होने से राजकुमार की पत्नी बनने के योग्य न समझी जाती थीं, उस देश के लिये अक्षर लिपि की चर्चा कितनी पुरानी होनी चाहिये। ललित विस्तार में अन्यत्र भी लिपिशास्त्र का उल्लेख आया है।

"शास्त्राणि यानी प्रचरन्ति च देवलोके,
संख्या लिपिश्चगणनावि च धातु तत्वः।
ये शिल्पयोगपृथु लौकिक अप्रमेया,
स्तेष्वेषु शिक्षितु पुरा बहुकल्प कोट्यः
किन्तु जनस्य अनुवर्तनतां करोति,
लिपिशाल मागतुसुशिक्षितशिक्षणार्थ॥"

(ललित वि० अ० १०)

इस प्रकार और भी ललित विस्तार में कई स्थानों पर ऐसे उल्लेख आये हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि जिस समय उक्त ग्रन्थ लिखा गया, उस समय लेखन कला का अच्छा प्रचार था। ललित विस्तार के अतिरिक्त और भी अनेक बौद्ध ग्रन्थों में लेखन कला का विवेचन आया है। बौद्धों के 'विनय' सम्बन्धी ग्रन्थों में 'लेख' लिखने की कला की प्रशंसा की है और बौद्ध श्रमणों, श्रावकों, तथा आर्याओं, के लिये लिखना जानने की आवश्यकता प्रदर्शित की है। बौद्ध जातकों में

स्थान स्थान पर ऐसे उल्लेख आये हैं जिनसे प्रकट होता है कि बौद्धकाल में लेखन कला का प्रचार खूब हो चुका था। हम जातकों में से यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं।

कटाहक जातक में लिखा है "कि काशी के एक सेठ के गुलाम कटाहक ने जाली चिट्ठी से अपने आपको सेठ का पुत्र सिद्ध करके एक दूसरे सेठ की पुत्री से विवाह कर लिया। उस पत्र पर उसने सेठ की मुहर भी लगा दी थी।" महासुतासोम जातक में लिखा है कि "तक्षशिला के विश्वविद्यालय के एक अध्यापक ने अपने पुराने छात्रों को पत्र लिखा था।" आसदिक जातक कथा में लिखा है कि "सात राजाओं ने काशी में घेरा देकर राजा ब्रह्मदत्त को पत्र भेजा और लिखा, कि राज्य छोड़कर चले जाओ। इसके उत्तर में राजा ने बाण पर अक्षर खोदे और वह बाण ऐसे निशाने से मारा कि उनके भोजन पात्रों पर लगा। उसमें लिखा था कि भाग जाओ नहीं तो मारे जावोगे।" चुल्लकालिंग जातक में उल्लेख किया गया है कि "पोतली के राजा अश्मक के मन्त्री नंदीसेन ने एक शासन लिखकर दंतपुर के राजा कलिङ्ग का आक्रमण रोका। कण्ह जातक में लिखा है कि एक धनवान ब्राह्मण का पुत्र अपनी सम्पत्ति संम्भालने गया और सोने के पत्र पर अपने पुरखाओं के लिखे धन के बीजक के अक्षर बाँचकर उसने अपनी संपत्ति का परिमाण जाना। रूरू जातक ग्रन्थ में लिखा है—कि "काशी के राजा की रानी खेमाने स्वप्न में स्वर्ण मृग देखा और कहा कि यदि यह मुझे न मिला तो मैं मर जाऊँगी। इस पर राजा ने सोने के पत्र पर एक कविता खुदवा कर मन्त्री को दी, और कहा कि इसे सारे नगर निवासियों को सुना दो। उस कविता का भाव यह था कि जो कोई उक्त मृग का पता

देगा उसे गाँव और गहनों से भूषित स्त्रियाँ दी जावेंगी।" कुरुधम्म जातक कथा में लिखा है कि "राजा की आज्ञा से कुरुजाति के पाँच प्रधान धर्म सोने के पत्रों पर खुदवाये गये। तेसकुन जातक कथा में उल्लेख है कि, "बोधिसत्व की आज्ञा से विनिश्चय धर्म खुदवाये गये।" और भी अनेक बौद्ध ग्रन्थों में लेखन का उल्लेख है।

अन्य ग्रंथों के प्रमाण

अनेक स्मृति-ग्रंथों, पुराणों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से भी यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि जिस समय ये ग्रन्थ बने उस समय लेखनकला खूब अच्छी तरह प्रचलित थी। वशिष्ठ धर्मसूत्र में न्यायकर्ता के पास लिखित प्रमाण उपस्थित करने का उल्लेख है। मनुस्मृति में जबरन लिखवाये हुए लेख को अप्रमाणित करने की व्यवस्था दी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कई जगह लेखन का उल्लेख है। थोड़े से उदाहरण देखिये—

"वृतचौल कर्मा लिपि संख्यानं चोप युञ्जित
संज्ञा लिपिभिश्चार संचार कुर्युः (१. ५. २)

शिलालेखों के प्रमाण

प्रो० मेक्समूलर ने बेजाने बूझे भारतीय लिपि की प्राचीनता के विषय में अपना भ्रमात्मक मत प्रकट किया है कहते हैं कि "मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि पाणिनि की परिभाषा में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो यह सूचित करे कि पाणिनि के समय में या इसके पहले लेखन प्रणाली मौजूद थी। मज़ा यह है कि मेक्समूलर साहब पाणिनि का समय ईस्वी सन के पूर्व चौथी शताब्दी मानते हैं। मेक्समूलर साहब का प्रत्यक्ष उत्तर

कुछ प्राचीन शिलालेख दे देते हैं। सम्राट अशोक के शिलालेख तो प्रकट हैं ही पर अभी कुछ समय पूर्व इनसे भी प्राचीन दो शिलालेख मिले हैं। अजमेर के संसार प्रख्यात पुरातत्वविद् राय बहादुर गौरीशंकर जी ओझा को अजमेर जिले के बड़की गाँव से एक शिलालेख मिला है। यह खण्डित अवस्था में है। इन पंक्तियों के लेखक ने उसे देखा है। अभी वह अजमेर के म्युजियम में रखा हुआ है। यह शिलालेख जैनियों के चौबी-सवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण काल के ८४ वर्ष पीछे का है। उस में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। महामहोपाध्याय स्वर्गीय डाकृर सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भी इस लेख को वीर संवत ८४ का माना है। इस हिसाब से यह लेख ईसवी सन पूर्व ४४३ वर्ष का है। इससे यह प्रकट होता है कि उस समय लेखनकला मौजूद थी।

दूसरा शिलालेख नेपाल की तराई में पिप्रावा स्थान पर प्राप्त हुआ है। इस लेख से प्रकट होता है कि शाक्य जाति के लोगों ने बुद्ध की अस्थि उस स्तूप में स्थापित की थी। इस लेख को डाकृर बूलर ने अशोक के समय से ४ शताब्दी पहले का माना है। पर डाकृर बूलर से अत्यधिक प्रमाणभूत इतिहास वेत्ता राय बहादुर गौरीशंकर जी ओझा इसे बुद्ध निर्वाण के कुछ ही पीछे का अर्थात् ईस्वी सन के ४८० वर्ष पहिले का मानते हैं।

चालीस हजार वर्ष पहले का शिलालेख

मराठी "भारतीय साम्राज्य" के प्रख्यात लेखक श्रीयुत् पावगी ने अपनी उक्त पुस्तक के एक भाग में एक चालीस हजार वर्ष के पहिले के शिलालेख का वर्णन दिया है। हमने इसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं देखा। अतएव उक्त शिला-

लेख के विषय में पावगी महोदय ने जो कुछ लिखा है उसका अनुवाद यहाँ हम ज्यों का त्यों दे देते हैं।

"सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता बर्ट साहब को विराट् नगर की टेकरी पर से एक अत्यन्त प्राचीन शिलालेख मिला है। कहा जाता है कि यही शिलालेख सन् १०२२ में महम्मद गोरी को मिला था। जब उसने पुराने विराट् नगर पर हमला कर नारायणपुर ग्राम के नारायण देव मन्दिर का विध्वंस किया था। उस समय उसी मन्दिर में यह पाया गया था। जनरल कनिंगहम आदि कितने ही पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यह शिलालेख चालीस हजार वर्ष का पुराना है। अगर इन विद्वानों का यह मत सत्य है तो चालीस हजार वर्ष के पहले भी इस भारतवर्ष में लेखनकला का अस्तित्व सिद्ध होता है। संसार में आज तक जितने भी शिलालेख मिले हैं, यह उन सब से प्राचीन माना गया है।

प्राचीन ग्रंथों, भोजपत्रों तथा ताड़पत्रों के प्रमाण

मध्य एशिया के यास्कंद नगर से २० मील दक्षिण "कुगिअर" स्थान में कागज पर लिखे हुए सबसे पुराने भारतीय लिपि के चार संस्कृत ग्रंथ मिले हैं इनका रचनाकाल डाक्टर हार्नल ने ईसवी सन् के पूर्व चौथी शताब्दी निश्चित किया है। (देखो Journal of the Bengal Asiatic Society Volume 62 Page 8)

डाक्टर स्टेन को खोतान प्रदेश के खाड्लिक स्थान में भोजपत्र पर लिखा हुआ सब से पुराना संस्कृत ग्रन्थ मिला है। इसका नाम "संयुक्तागम" है। यह बौद्ध सूत्र है। इसकी लिपि ईसवी सन् पूर्व चौथी शताब्दि की अनुमान की जाती है।

उपरोक्त ग्रंथों से यह बात स्पष्ट होती है कि ईसवी सन् के पूर्व चौथी और पाँचवीं सदी में न केवल लिपि ही का प्रचार था, पर ग्रंथ भी लिखे जाते थे।

विदेशियों के प्रमाण

प्राचीन समय में कई विदेशी यात्रा करते हुए भारतवर्ष आये थे। उनमें से निआँर्कस भी एक था। यह सिकंदर की सेना के सेनापतियों में से था। इसने भारत पर सिकंदर की चढ़ाई का विस्तृत वर्णन लिखा है। वह लिखता है कि—'भारतवासी चिथड़ों को कूट कूट कर लिखने के लिये कागज़ बनाते हैं।" सुप्रख्यात प्रवासी मेगास्थनीज के लेखों से भी प्रकट होता है कि जिस समय वह भारतवर्ष आया था, उस समय यहां लेखन कला का अच्छा प्रचार था।"

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के मत

कई आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह मुक्त कंठ से स्वीकार किया है कि प्राचीन भारतवासी लेखनकला जानते थे। प्रोफेसर विलसन साहब कहते हैं—

The Hindus have been in possession of that writing as long as of a literature "हिंदुओं के पास जब से साहित्य है तब ही से लेखनकला भी है।" इसका मतलब यह है कि जितना हिंदुओं का साहित्य पुराना है उतनी उनकी लेखनकला भी पुरानी है।

Prof. Heeran—प्रोफेसर (हीरन) कहते हैं—

"Everything concurs to establish the fact that alphabetical writing was known in India from the earliest time. and that its use was not

confined to inscriptions but extended also to every purpose of common life."

अर्थात् हरएक खोज इस तत्व को पुष्ट करती है कि अत्यंत प्राचीनकाल में भी भारत को लेखनकला ज्ञात थी। उसका उपयोग केवल शिलालेखों तक ही परिमित न था वरन् साधारण जीवन के हरएक व्यवहार में इसका उपयोग होता था।

काउण्ट जानस्टर्जन का कथन है—

That the Hindus possessed written books of religion before 2800 B. C. or 800 years befere Abraham.

अर्थात् हिंदुओं के पास ईसवी सन् के २८०० वर्ष तथा अब्राहम के ८०० वर्ष पहले के लिखे हुए ग्रंथ थे।

युरोप के लीडेन (Leyden) नगर में सन् १८८३ में पौर्वात्यों की "अन्तराष्ट्रीय कांग्रेस" (International Congress of Orientelists) हुई थी। उसमें एक अत्यन्त नामाङ्कित पाश्चात्य विद्वानों ने 'प्राचीन भारत की लेखनकला' पर विद्वत्तापूर्ण निबन्ध पढ़ा था। उसमें अनेक अकाट्य प्रमाणों द्वारा विद्वान् लेखक ने यह सिद्ध किया था कि वैदिककाल से भारतवर्ष में लेखनकला प्रचलित है। इन्होंने कहा था—

"I feel no hesitation in saying that there are words and phrases occuring in the Samhitas of the Vedas, in the Brahmins and in the Sutra works which leave no doubt as to the use of the written characters in ancient India. It may be confidently asserted that the systematic treaties in prose which abounded at and long before

the time of Panini, could never have been composed without the help of writing. We know for certain that with the exception of the hymns of the Rigveda, most of the Vaidic works are in prose, and it is difficult to understand how they could possibly have been composed without having recourse to some artificial means."

"भारत की विभिन्न लिपियां"

प्राचीन काल में कई प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं। बौद्धों के सुप्रख्यात ग्रन्थ ललितविस्तार में इकसठ प्रकार की लिपियों का उल्लेख है। यथाः—

१ ब्राह्मी, २ खरोष्टि, ३ पुष्करसारी, ४ अङ्ग, ५ वङ्ग, ६ मगध, ७ माङ्गल्य, ८ मनुष्य, ९ अङ्गुलीय, १० शकारी, ११ ब्रह्मवल्ली, १२ द्रविड, १३ कनारी, १४ दक्षिण, १५ उग्र, १६ संख्या, १७ अनुलोम, १८ अर्द्धधनु, १९ दरद, २० खास्य, २१ चीन, २२ हूण, २३ मध्याक्षरविस्तर, २४ पुष्प, २५ देव, २६ नाग, २७ यक्ष, २८ गन्धर्व, २९ किन्नर, ३० महोरग, ३१ असुर, ३२ गरुड़, ३३ मृगचक्र, ३४ चक्र, ३५ वायुमरूत, ३६ भौमदेव, ३७ अन्तरीक्षदेव, ३८ उत्तर कुरूद्वीप, ३९ अपरगौडादि, ४० पूर्व विदेह, ४१ उत्क्षेप, ४२ निक्षेप, ४३ विक्षेप, ४४ प्रक्षेप, ४५ सागर, ४६ वज्र, ४७ लेख प्रतिलेख, ४८ अनुद्रुत, ४९ शास्त्रावर्त, ५० पादलिखित, ५१ द्विरुत्तरपदसन्धि, ५२ देशोत्तरपदसन्धि, ५३ अध्याहारिणी, ५४ सर्वभूतसंग्रहणी, ५५ विद्यानुलोम, ५६ विमिश्रित, ५७ ऋषीतपस्तप्ता, ५८ धरणी प्रेक्षण, ५९ सर्वौषधिनिष्यन्दा, ६० सर्वसारसंग्रहणी, ६१ सर्व-

भूतरूपग्रहणी। जैनियों के सुप्राचीन ग्रन्थ "समवायसूक्त" में अठारह प्रकार की लिपियों का उल्लेख है। उसमें कहा है:—

"बम्मी एणं अठारसविह लेखक विहाने। बम्मी, जव णालिया, दसउरिया, खरोटिया, पुक्खरसारिया, पहाराइया, उच्चरकुरिया, अखकर पुथिया, भोमवइया, वेक्खेइया, निख्केइया, अंकलिवि, गणिआलिवि, गन्धब्वालिवि, आदस्सर्ग-लिवि, माहेसरलिवि, दामिलिलिवि, बोलिदिलिवि।" अर्थात् ब्राह्मी प्रभृति अठारह प्रकार की लेखन लिपियों के नाम ये हैं:—

ब्राह्मी, भवनानी, दशोत्तरिका, खरोष्ट्रिका, पुष्करसारिका, पार्व्वतिका, उत्तर कुरूका, अक्षरपुस्तिका, भौमवाहिका, विक्षेपिका, अङ्कगणित, गन्धर्व, आदर्शक, माहेश्वर, द्राविडी, बोलिदी।

जैनियों के प्रज्ञापना सूत्र में भी पूर्वोक्त अठारह लिपियों का उल्लेख है। प्रज्ञापन सूत्र के टीकाकार मलयगिरी ने लिखा है:—

"ब्राह्मी भवना नीत्यादयो लिपि भेदास्तु सम्प्रदायाद्वशेषः।" अर्थात् ब्राह्मी, भवमानी आदि अठारह प्रकार की लिपि विभिन्न सम्प्रदायों से उद्धृत हुई है। अब हम इनमें से मुख्य लिपियों का ऐतिहासिक अन्वेषण करना चाहते हैं।

ब्राह्मी लिपि

जैनियों के लक्ष्मीवल्लभगणि रचित कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका नामक ग्रन्थ में लिखा है:—

"अथ श्री ऋषभ देवेन ब्राह्मी दक्षिण हस्तेन अष्टादशलिपियो दर्शिताः।"

अर्थात् श्री ऋषभदेव ने दाहने हाथ से जो अठारह प्रकार की लिपि प्रकाशित की थी, उनमें से आदि लिपि का नाम ब्राह्मी है। जैनी, भगवान् ऋषभदेव को पहला तीर्थंकर मानते हैं और भागवत के मत से वे भगवान् के आठवें अवतार हैं। इन्हीं ऋषभदेव के पुत्र का नाम भरत था, जिनके नाम पर पौराणिक कथा के अनुसार इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के लिये महाभारत में लिखा है:—

"इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणापूर्वं लोभात्त्वज्ञानतागताः॥

(शान्तिपर्व १८८।१५)

अर्थात् पूर्व काल से ही चारों वर्ण ब्राह्मण से वर्णान्तर को प्राप्त हुए हैं; और पूर्व काल से ही ब्रह्मा ने इन चारों वर्णों के लिये ब्राह्मी भाषा निर्दिष्ट की है। ब्राह्मी भाषा की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ मिला है, वह पुराणादि ग्रन्थों ही से लिया गया है। अभी तक इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक प्रमाणभूत ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है। पण्डित गौरीशङ्करजी ओझा जैसे संसार प्रख्यात पुरातत्त्व-विद् महानुभाव भी इसकी उत्पत्ति का समुचित पता नहीं लगा पाये हैं। वे अपने सुप्रख्यात ग्रन्थ "भारतीय प्राचीन लिपि माला" में लिखते हैं:—

हिन्दुस्थान का प्राचीन इतिहास अभी तक घने अन्धकार में छिपा हुआ है। पुराने शहरों और बस्तियों के चिन्ह वर्त्त-मान धरातल से पचासों फुट नीचे हैं, क्योंकि बार बार विदे-शियों के आक्रमणों से पुराने स्थान नष्ट होते गये और उन पर नये बसते गये। सारा देश एक राजा के आधीन न होने से

क्रमबद्ध इतिहास भी न रहा। प्राचीन इतिहास का शोध अभी हमारे यहाँ आरम्भिक अवस्था में है। तो भी उससे जितना कुछ मालूम हुआ है वह बड़े महत्त्व का है। पर अभी तक वह अधिक प्राचीन काल के अवशेषों तक नहीं पहुँच सका है। अभी तक प्राचीन शिलालेख जो मिले हैं, वे ईसवी सन् पूर्व की पाँचवीं शताब्दी के पहले के नहीं हैं। परन्तु साहित्य में प्रत्यक्ष या गौणरीति से लेखनकला के जो हवाले मिलते हैं, वे बहुत प्राचीन समय तक जाते हैं। उन सब से सिद्ध होता है कि लेखनकला सर्वसाधारण में प्रचलित एक पुरानी बात थी, जिसमें कोई अनोखापन नहीं था। जितने प्रमाण मिले हैं वे चाहे प्राचीन शिलालेखों की शैली पर से हों, चाहे साहित्य के उल्लेख से, सभी यह दिखलाते हैं कि यहाँ लेखनकला प्रौढ़ावस्था में थी। उसके आरम्भिक विकास के समय का पता नहीं चलता। ऐसी दशा में यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कैसे हुआ और इस परिपक्व रूप में—जिसमें कि हम उसे पाते हैं—वह किन किन परिवर्त्तनों के बाद पहुँची।

जिस प्रकार मिश्र आदि देशों में पहले पहल भावों के संकेत रूप चित्र हुए और वे शब्दों के संकेत होकर उनसे अक्षरों के संकेत बने। इसी तरह यहाँ भी किसी चित्र लिपि से ब्राह्मी लिपि बनी या प्रारम्भ से ही ध्वनि के सूचक चिन्ह बना लिये गये, यह कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। निश्चय के साथ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि की प्रौढ़ावस्था तक ही इतिहास की पहुँच है। उसका किसी बाहरी स्रोत या प्रवाह से निकलना सिद्ध नहीं होता।

ब्राह्मी लिपि के सम्बंध में आधुनिक पाश्चात्य पण्डितों का भ्रम

डॉक्टर आफ्रेडेमूलर का अनुमान है कि जब सिकन्दर के साथ यूनानी लोग आये, तब यहाँ वालों ने उनसे अक्षर सीखे। प्रिन्सेप और सेनार्ट ने यूनानी लिपि से ब्राह्मी लिपि के बनने अनुमान किया है। प्रो० विलसन ने फिनिशियन लिपि से उसका उद्भव माना है।

कस्ट महाशय का कहना है कि एशिया के पश्चिम में रहने वाले फिनिशियन लोग ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के पहले लेखनकला जानते थे, और उनका वाणिज्य सम्बन्ध भारतवर्ष के साथ था। अतएव फिनिशियन लिपि से ब्राह्मी लिपि का निकलना सहज है।

सिविन्स का अनुमान है कि ब्राह्मी लिपि या तो फिनिशियन लिपि से बनी है या मिसर की लिपि से।

डीके का मत है कि ब्राह्मी-लिपि असीरिया की "क्युनिफॉर्म" लिपि से बनी है।

ईसवी सन् १८०५ में डाक्टर बूलर ने "भारतवर्ष में ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति" विषय पर अँग्रेजी में एक छोटीसी पुस्तक लिखी थी। इसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ब्राह्मी-लिपि के २२ अक्षर उत्तरीय सेमेटिक लिपियों से लिये गये हैं और शेष भी उन्हीं से बनाये गये हैं।

इस प्रकार और भी कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक भ्रमात्मक विचार प्रकट किये हैं। अजमेर म्युजियम के सुप्रिन्टेन्डेण्ट संसार-विख्यात पुरातत्वविद् रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर जी ओझा ने उन

सब लिपियों के साथ जिनसे उक्त पाश्चात्य पण्डित ब्राह्मी लिपी की उत्पत्ति मानते हैं, ब्राह्मी लिपी के अक्षरों की तुलना कर उक्त पाश्चात्य पण्डितों का मत भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया है *। हमें मालूम है कि इस सम्बन्ध में उक्त पण्डितजी ने अकाट्य युक्तियों द्वारा डाक्टर बूलर को चुप कर दिया था।

ब्राह्मी लिपि का प्रचार और शाखाएँ

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की प्राचीन लिपि है। पहले इस लिपि के लेख अशोक के समय अर्थात् ईसवी सन् की तीसरी शताब्दि तक ही के मिलते थे, पर कुछ बरस हुए इस लिपि के दो छोटे छोटे लेख और मिले हैं जो ईसवी सन् पूर्व की पाँचवी शताब्दि के हैं। इनमें से एक अजमेर ज़िले के बर्लीगाँव में, और दूसरा विप्रावा गाँव में मिला। इनका उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। इन लेखों और अशोक के लेखों की लिपि में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है।

हस्तलिखित लिपियों में सर्वत्र ही समय के साथ परिवर्तन हुआ करता है। इसी प्रकार ब्राह्मी लिपि में भी कई परिवर्तन हुए। इसका फल यह हुआ कि उसकी कई शाखाएँ निकल गईं। यहाँ हम उन शाखा लिपियों का थोड़ा सा विवेचन "प्राचीन लिपि माला" के आधार से करना चाहते हैं।

गुप्त-लिपिः—गुप्तवंशीय राजाओं के समय में भारत में इस लिपि का प्रचार था। अतएव उसका नाम 'गुप्त-लिपि'

* इस सम्बन्ध की विशेष जानकारी पण्डित जी के विख्यात ग्रन्थ "भारतीय प्राचीन लिपि माला" में मिलेगी। मूल्य २५ रु० मिलने का पता— शान्तिमन्दिर भानपुरा (होलकर राज्य)

रखा गया। इसका प्रचार ईसवी सन् की चौथी या पाँचवी शताब्दि में था।

कुटिल-लिपि—इसके अक्षरों तथा स्वरों की मात्राओं की कुटिल आकृतियों के कारण इसका नाम कुटिल रखा गया। यह ब्राह्मी लिपि की पौत्री और गुप्त लिपि की पुत्री है। इसका प्रचार छठी सदी से नवीं सदी तक रहा। इसीसे शारदा और नागरी लिपि का जन्म हुआ।

नागरी-लिपि—उत्तर भारत में इसका प्रचार नवीं सदी के आस पास होना पाया जाता है, पर दक्षिण भारत में ८वीं सदी में भी इसका प्रचार पाया जाता है। क्योंकि दक्षिण के राष्ट्र कूट (राठौर) राजा दन्तादुर्ग के समानगढ़ ग्राम (कोल्हापुर राज्य) से मिले हुए शक सम्वत् ६७५ के दानपत्र की लिपि नागरी है। दक्षिण के पिछले कई राजवंशों के लेखों में भी इसका प्रचार है। दक्षिण में इसे 'नन्दिनागरी' कहते हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बङ्गला लिपि निकली। इसके अतिरिक्त नागरी से ही कैथी, महाजनी, राजस्थानी, और गुजराती लिपियाँ निकलीं।

शारदा-लिपि—इसका प्रचार भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमी हिस्सों अर्थात् कश्मीर और पञ्जाब में रहा। ईसवी सन् की ८ वीं शताब्दि के राजा मेरुवर्मा के लेखों से पाया जाता है कि उस समय तक तो पंजाब में भी कुटिल लिपि का प्रचार था। पर इसके पीछे इसी लिपि से शारदा लिपि बनी। उसके जितने लेख अब तक मिले हैं उनमें सबसे पुराना लेख सराहा (चंबा राज्य में) की प्रशस्ति है, जो ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दि की अनुमान की जा सकती है। इस लिपि से वर्तमान काश्मीरी और टाकरी लिपियाँ निकली हैं और पञ्जाबी अर्थात् गुरुमुखी के अधिकतर अक्षर भी इसी से निकले हैं।

बँगला-लिपि—यह लिपि नागरी की पूर्वी शाखा से निकली है। ईसवी सन की १०वीं शताब्दी के आस पास के समय के लेखों में बँगला का झुकाव दिखाई देता है। इसी लिपि से ११वीं शताब्दि के बाद नैपाल की लिपि, तथा वर्तमान बँगला, मैथिल, और उड़िया, लिपियाँ निकली हैं।

दक्षिणी शैली की लिपियाँ प्राचीन ब्राह्मी लिपि के इस परिवर्तित रूप से निकली है ये लिपियां क्षत्रप और आंध्रवंशी राजाओं के समय के लेखों में, तथा उनसे कुछ पीछे के (दक्षिण की नासिक, कार्ली, आदि गुफाओं के) लेखों में पाई जाती हैं। दक्षिणी शैली की लिपियाँ नीचे लिखी हुई हैं:—

१ पश्चिमी:—यह लिपि काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश, और सितारा के जिलों तथा हैदराबाद राज्य के कुछ अंशों में और कोकण तथा कुछ कुछ माइसोर राज्य में ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दि के आस पास से नवीं शताब्दि के आस पास तक मिलती है। ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दि के आस पास इसका कुछ कुछ प्रचार राजपूताना तथा मध्यभारत में भी पाया जाता है। इस पर उत्तरी-लिपि का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। भारतवर्ष के पश्चिमी विभाग में इसका अधिकतर प्रचार होने के कारण इसका 'पश्चिमी' नाम कल्पित किया गया है।

२ मध्यप्रदेश:—यह लिपि मध्यप्रदेश, हैदराबाद के उत्तरी विभाग, तथा बुन्देलखण्ड के कुछ हिस्सों में ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दि से लगाकर आठवीं शताब्दि के पीछे तक मिलती है। इस लिपि के अक्षरों के सिर चौकोर या सन्दूक की सी आकृति के होते हैं, जो भीतर से बहुधा खाली, परन्तु कभी कभी भरे हुए भी होते हैं। अक्षरों की आकृति बहुधा

समकोण होती है, अर्थात् उनके बनाने में आड़ी, खड़ी, रेखाएँ काम में लाई गई हैं, नकि गोलाईदार। इस लिपि के ताम्रपत्र ही विशेष मिले है, शिलालेख बहुत कम।

३ तेलंगु-कनड़ी—यह लिपि बम्बई हाते के दक्षिणी-विभाग अर्थात् दक्षिणी-मराठा-प्रदेश, सोलापुर, बीजापुर, बेलगाँव, और धारवाड़ जिलों में, हैद्राबाद राज्य के दक्षिणी हिस्सों में, माइसोर राज्य में, एवं मद्रास हाते के उत्तर पूर्वी विभाग अर्थात् विजगापट्टम्, गोदावरी, कृष्णा, कर्नूल, बिलारी, अनन्तपुर, कड्डप्पा, और निल्लोर, जिलों में मिलती है। ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दि से १४वीं शताब्दि तक इसके कई रूपान्तर होते हुए इसी से वर्तमान तेलंगु और कनड़ी लिपियाँ बनीं।

४ ग्रन्थ-लिपि—यह लिपि मद्रास हाते के उत्तरी व दक्षिणी अर्काट, सलेम, त्रिचनापल्ली, मथुरा, और तिन्नेवल्लि, जिलों में मिलती है। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दि से १५वीं शताब्दि तक इसके कई रूपान्तर होते होते इससे ग्रन्थ लिपि बनी। सी ग्रन्थ लिपि से वर्तमान मलयालम् और तुलु लिपियाँ निकलीं। मद्रास अहाते के हिस्सों में तेमील लिपि का व्यवहार होता था जिसमें वर्णों की अपूर्णता के कारण संस्कृत ग्रन्थ लिखे नहीं जा सकते। वहाँ पर संस्कृत ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे जाते हैं। इसी से इसका नाम ग्रन्थ लिपि (संस्कृत ग्रन्थों की लिपि) पड़ा है।

खरोष्टि-लिपि

ब्राह्मी लिपि के बाद खरोष्टि-लिपि का नम्बर आता है। कई पाश्चात्य पण्डितों ने स्थिर किया है कि खरोष्टि-लिपि फिनिक लिपि की अरमईक शाखा से उद्भूत हुई। सुप्रख्यात्

पुरातत्वविद् रायबहादुर गौरीशंकर जी ओझा का भी यही मत है। सुप्रख्यात् पुरातत्त्वविद् कनिंगहम ने लिखा है—

पारसियों के आदि धर्मग्रन्थ "अवस्था" के मंत्र और उसकी गाथाएँ पारसियों के आदि पैगम्बर झोरोस्टर ने सङ्कलित की थी डेरियस-हिस्तास्पस (Darious Hystaspes) के समय में वे ही मन्त्र और गाथायें किसी प्रचलित लिपि में लिखी गईं। इसी लिपी का झोरास्टर के नामानुसार खरोष्टि नाम हो गया होगा। यह लिपि उल्टी लिखी जाती है, पर हम कनिंगहम के साथ सहमत नहीं है। क्योंकि स्वयं डाकृर बूलर ने भी यह स्वीकार किया है कि अरमईक लिपि से भी खरोष्टि लिपि के कोई कोई अक्षर पुराने हैं। इसके अतिरिक्त अरब देश के इतिहासवेत्ता मसूदी ने लिखा है कि जरतुस्त (झोरास्टर) की प्रचलित जेन्द अवस्था १२००० गोचर्म पर उन्हीं को उद्भावित लिपि से लिखी गई थी। ऐसी दशा में यह कहना कि दाराअइत्य के समय में खरोष्टि लिपि की उत्पत्ति हुई, कहाँ तक ठीक है?

भारतीय भविष्य पुराण (ब्राह्मपर्व) और पारसियों के आदि धर्मग्रन्थ अवस्था के पढ़ने से मालूम होता है कि सौरों के बीच अग्नि पूजा के प्रवर्तक जरशस्त्र (झोरास्टर) 'मग' 'मगुस' तथा 'मछुस' नाम से प्रसिद्ध थे। ईसवी सन् के पूर्व पाँचवी शताब्दि में सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हिराडो ने लिखा है कि शाक द्वीपियों की आरिअस्प (Ariaspe) शाखा ने अत्यन्त प्राचीन काल में शक्ति सम्पादित कर असुरीय, मिदीय, प्रभृति, पुराने राज्य जीते। भविष्य पुराण के मत से मिहिर-गोत्र में ऋजिश्वर का जन्म हुवा* था। उनका जन्म ठीक वैध

* वेदोक्त विधिमुत सृज्य यथार्ह लडित स्तया। तस्मात भगः समुत्पनस्तव पुत्रो

रूप से न होने के कारण वे और उनके वंशधर 'अग्निजात्य' कहलाने लगे। उनके पितृकुल के अज्ञात होने के कारण सुप्रख्यात प्राचीन यूनानी इतिहासवेत्ता हिराडोट्स ने उनके वंशधरों को मातृकुल के अरिअस्प या आर्जश्व (अर्थात् ऋजिश्वा के गोत्रापत्य) प्रदर्शित किया है।

लिदिया के प्रसिद्ध यूनानी पण्डित जॉनधिस ने ईसवी सन् से ४७० वर्ष पहले लिखा था कि जरशस्त्र (झोरास्टर) द्रय युद्ध से ४७० वर्ष पहले आविर्भूत हुए थे। एरिस्टोटल और इउडोक्सास के मतानुसार प्लेटो से कोई ६००० वर्ष के पहिले जरशस्त्र (झोरास्टर) का अभ्युदय हुआ था। बाबिलोन के सुप्रख्यात प्राचीन इतिहासवेत्ता वेरोसस ने लिखा है कि जरशस्त्र किसी समय बाबिलोन के अधीश्वर थे। उनके वंशजों ने ईसवी सन के २२०० वर्ष पहिले से २००० वर्ष पहिले तक आधिपत्य किया था। (झोरास्टर) जरशस्त्र के वंशधर भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। इन सब ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि चार हज़ार वर्ष से बहुत पहले जरशस्त्र (झोरास्टर) और उनके वंशजों का अभ्युदय हुआ था। उन्हीं के प्रभाव से शकों के आदि मित्रधर्म का अधःपतन हुआ, और अग्नि पूजा ही सर्वत्र प्रचलित हुई। हम पहले कह चुके हैं कि जरशस्त्र और उनके वंशज 'मग' नाम से प्रसिद्ध थे। भविष्य पुराण में लिखा है—

विपरीत क्रम से वेदाध्ययन करने के कारण इनका नाम मग पड़ा था। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद ये जैसे

भविष्यति जरशस्त्र इतिख्यातो वंशकिर्ति विवर्धनः। अग्नि जात्या मगा प्रोक्ता सोम जात्या द्विजातयः भविष्ये (१३९। ४३। ४५)

ब्राह्मणों के चार वेद हैं, वैसे ही मगों के भी इनसे विपरीत चार वेद हैं। उनके नाम ये हैं—विद, विश्वरद, (या विस्परद) विराद, और आङ्गिरस। भविष्य पुराण की इस युक्ति से भली-भाँति ज्ञात होता है कि भारत के चार वेद जैसे बाँये हाथ से दहिने की ओर लिखे जाते हैं वैसे ही शाक द्विपीय मगों के आदि धर्म ग्रन्थ दाहिनी ओर से बाँई ओर को लिखे जाते थे। इसी पाठ विपर्य्यय के कारण उनका नाम मग पड़ा। यह 'मग' नाम अवस्ता के प्राचीन अंश में भी मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चार पाँच हजार वर्ष पहिले उलटी लिखी जाने वाली खरोष्टि लिपि की उत्पत्ति हुई होगी। प्राचीन इतिहास लेखकों तथा इस देश के पुराणों से इस बात का आभास मिलता है कि ४ या ५ हजार वर्ष पहले शाक द्वीप से लगाकर बाबिलोन और मिश्र के उपकूल पर्यंत मगाधिपों का आधिपत्य फैल गया था। यूनानी इतिहास वेत्ताओं ने गम्भीर अन्वेषण के बाद यह स्थिर किया है कि अत्यन्त प्राचीन काल में शाकद्वीप की सीमा तातार, साइबेरिया, मोस्को क्रीमीया, पोलैंड, हंगरी का एक अंश, लिथुनिया जर्मनी का उत्तरांश, स्वीडेन, नारवे प्रभृति स्थानों तक फैली हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि मगों के आधिपत्य के साथ साथ इन सब स्थानों में खरोष्टि लिपि भी चल पड़ी थी। इसी से असुरीय (Assyria) बाबिलोन प्रभृति स्थानों की लिपि के साथ खरोष्टि लिपि का सादृश बना हुआ है।

छठा अध्याय।

प्राचीन भारतवासियों का ज्योतिषशास्त्र

ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन से चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित और आनन्दित होता है। अगणित तारकाओं का प्रदर्शन देखकर किसके हृदय में अलौकिक आनन्द का श्रोत नहीं बहने लगेगा? सुविशाल विश्व के दरबार में तारकामय नभोमंडल अत्यन्त अलौकिक और दर्शनीय वस्तु है। इंग्लैण्ड के सुविख्यात कवि मिल्टन ने कहा है कि आकाश मनुष्य को परमेश्वर द्वारा दी गई पुस्तक है। इस पुस्तक में जगन्नियता की अद्भुत कुशलता का दिग्दर्शन होता है। अतएव जिस देश में इस अलौकिक शास्त्र का जितना ही विकाश हुआ हो, समझना चाहिये कि वह देश सभ्यता और संस्कृति में उतना ही आगे बढ़ा हुआ है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि ज्योतिषशास्त्र किसी भी राष्ट्र की सभ्यता का द्योतक है। डॉक्टर सर विलियम हंटर और मिस्टर एल्फिन्स्टन महोदय का मत है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवासियों को इस अपूर्व विषय की बड़ी रुचि थी और उन्होंने इसमें अत्यन्त प्रवीणता प्राप्त की थी। हाल में भी प्राचीन भारतवासियों के ज्योतिषज्ञान की जो टूटी फूटी सामग्री मिलती है, उससे उनकी अगाध बुद्धि और विमल तथा सात्विक संस्कृति का दिग्दर्शन होता है। और भी कितने ही पाश्चात्य विद्वानों का ऐसा ही मत है। प्राचीन आर्य्यों की सभ्यता और संस्कृति के लिये उनकी आश्चर्य कारक विद्वत्ता

के लिए, उनकी अनेक आदरणीय संस्थाओं के लिये, अब प्रायः सब पाश्चात्य पण्डित एक होने लगे हैं।

महामति वेबर का मत है कि ईसवी सन् के २७८० वर्ष पहले भारतवर्ष में ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन शुरू था। सुप्रख्यात पाश्चात्य ज्योतिषी केसीनी, बेलो, जेंटिल, फेफेंग्रर, आदि के मत से ईसवी सन् के तीन हजार वर्ष पहले भी भारत ने ज्योतिष शास्त्र में खासी प्रगति कर ली थी। उस वक्त के लिखे हुए ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। काउन्ट जॉनस्टर्जना ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि कलियुग के प्रारम्भ में भारत में ज्योतिषशास्त्र अच्छी उन्नति पर पहुँच गया था। आपके मतानुसार कलियुग ईसवी सन् के पूर्व ३१०२ वर्ष की फरवरी मास में शुरू हुआ। सर डबल्यु हंटर का कहना है कि कई बातों में हिन्दू ज्योतिषशास्त्र ग्रीक ज्योतिषशास्त्र से बहुत आगे बढ़ गया था। डॉक्टर राबर्टसन का कथन है कि बारह राशियों का ज्ञान सब से पहले भारतवासियों को हुआ। अब तक हमने पाश्चात्य पण्डितों के मत के आधार से भारतीय ज्योतिषशास्त्र की प्राचीनता का विवेचन किया। अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से यहाँ ज्योतिष शास्त्र का किस प्रकार विकास होता गया।

वैदिककाल में ज्योतिषशास्त्र

वैदिककाल अत्यन्त प्राचीन काल है। लोकमान्य तिलक ने अपने (Orion) मृगशीर्ष नामक ग्रंथ में प्रबल प्रमाणों द्वारा इस काल को ईसवी सन् के पूर्व ५००० वर्ष पहले स्थिर किया है। यह एक ऐसा समय था जब सारा संसार अंधकार में आच्छादित था। कई पाश्चात्य पण्डित भी इस बात को मुक्त-

कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद संसार में सबसे प्राचीन ग्रंथ है। देखते हैं कि इसी ऋग्वेद में ज्योतिषशास्त्र की कई ऐसी बातों का पता चलता है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज के साथ आविष्कृत की है।

ऋग्वेद में सृष्टि रचना

संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में जग की उत्पत्ति और सृष्टि रचना के विषय में क्या उल्लेख है, इस पर हम थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं:—

"देवानां नुवयं जाना प्रवोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥१॥
ब्रह्मणस्पतिरेतासं कमरि इवा धमत्।
तदाशा अन्वजायंत तदुत्तान पदस्परि ॥२॥
भूर्जज्ञं उत्तानपदो भुव आशा अजायतं।
आदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥३॥
आदितिर्ह्य जनिष्ट दक्षया दुहिता तव।
तां देवा अन्व जायंत भद्रा अमृत बंधवः ॥४॥
ऋ० सं० १०-७२।

इस मन्त्र का संक्षिप्त सार यह है कि देवों के पूर्व युग में असत से (अभाव से) सत हुआ। उससे दिशाएँ हुईं। उनसे उत्तानपाद हुआ। उत्तानपद से पृथ्वी हुई। पृथ्वी से आशा हुई। अदिति से दक्ष हुआ। दक्ष से अदिति हुई। इस मन्त्र का स्पष्टीकरण यह है कि पहले कुछ भी नहीं था उससे कुछ अस्तित्व (सत) हुवा। इसके बाद दिशाएँ हुईं और फिर पृथ्वी हुई।

सूर्य में आकर्षण शक्ति है और वह पृथ्वी को अपनी ओर

आकर्षित करता है। आधुनिक वैज्ञानिकों का यह तत्व भी ऋग्वेद में पाया जाता है।

"मित्रो जनान्या तयीतब्रुवाणो मित्रोदाधार पृथिवीमुतद्या॥
मित्रः कृष्टिरनि मिषाभिचष्टे मित्राय हव्यं धृतं वज्जुहोत॥

इस ऋचा का अर्थ यह है कि सर्व प्रजा को मित्र का अर्थात् सूर्य का आधार है और वह पृथ्वी को आकर्षित करता है और इसके आकर्षण से वह क्षण भर भी नहीं छुटता। ऋक्संहिता में ग्रहण के विषय में कहा गया है—

"अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरपमायाऽअधुक्षता॥
चवै सूर्यं स्वभानुस्तमसा विध्यसुरः। अत्रय।

इसका आशय यह है कि सूर्यमण्डल अर्थात् सुर तथा स्वयं प्रकाश गोल के दर्शन होने में असुर अर्थात् पर प्रकाशक गोल अटकाव करता है। यह वेध प्रथमतः अत्रिऋषी ने आविष्कृत किया। इसका ज्ञान इसके पहले किसी को न था।

इस अनन्त विश्व के सामने पृथ्वी समुद्र में जलबिंदुवत् है यह वैज्ञानिक कल्पना ऋग्वेद में भी पाई जाती है:—

यदिन्विद्रं पृथिवी दशभुजिरहानि विश्वाततनंत कुस्ययः।
अत्राहते मघवन् विश्रुतं सहोद्यामनु शवसावर्हणा भुवत्॥
(ऋ० सं० १. ५२. ११.)

सूर्य ऋतुओं का कारण है

ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि भिन्न २ ऋतुओं का कारण सूर्य है।

"पूर्वामनु प्रदिशं पार्थिवानामृतन् प्रशासद्विदधावनुष्ठु॥"
(ऋ० सं० १. ९५. ३.)

अर्थ—(वह सूर्य) "ऋतुओं का नियमन करके पृथ्वी की पूर्वादि दिशाएँ एक के बाद एक निर्माण करता है ।" ऋग्वेद में और भी ऐसे वाक्य हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि ऋतुओं की उत्पत्ति सूर्य से होती है ।

सूर्य एक है

सूर्य एक है—अधिक नहीं, यह कल्पना भी ऋक्संहिता में पाई जाती है । यथा—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धि एकः सूर्यो विश्व मनुप्रभूतः ॥
एकै वोषा सर्व मिदं विभाति ॥ ऋ० सं० ८. ५८. २

अर्थात् एक ही सूर्य विश्व का प्रभु है । एक ही उषा विश्व को प्रकाशित करती है ।

ऋग्वेद में पृथ्वी का गोलत्व

पृथ्वी गोल और निराधार है । आधुनिक भूगोल का यह तत्व हमारे आर्यलोग हज़ारों वर्षों के पहले जानते थे । यह बात ऋग्वेद के "यक्राणासः परीणहं पृथ्वीव्या हिरण्येन मणिना शुभ मानाः" आदि पदों से स्पष्ट व्यक्त होती है ।

ऋग्वेद के बाद ज्योतिष ज्ञान

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, ऋग्वेद संसार भर में सब से प्राचीन ग्रंथ है । इस बात को अनेक विख्यात पाश्चात्य पण्डितों ने भी स्वीकार किया है । यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तैतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, आदि इसके बाद के बने हुए ग्रंथ हैं । यहाँ हम इनकी काल विवेचना पर अधिक तर्क वितर्क करना नहीं चाहते । हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि भारतीय ज्योतिष शास्त्र का किस प्रकार विकास होता गया ।

अब हम ऋग्वेद के बाद के ग्रंथों में ज्योतिष शास्त्र पर जो विवेचन है, उसका थोड़ासा उल्लेख करना चाहते हैं।

सूर्य के सम्बन्ध में विवेचन

हमने ऊपर की पंक्तियों में ऋग्वेद में सूर्य के विषय में जो कल्पना प्रदर्शित की गई है, उसका उल्लेख किया है। हमने ऋग्वेद के मन्त्र देकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ऋग्वेद के अनुसार सूर्य सकल भुवन का आधारभूत है। वह सकल ऋतुओं का नियमन करनेवाला है, अर्थात् भिन्न भिन्न सकल ऋतुओं का जनक वही है। सूर्य और उषा एक ही है अनेक नहीं। सूर्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनेक बातें ऋग्वेद में आई हैं। अब हमें यह देखना है कि ऋग्वेद के पीछे के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में क्या उल्लेख है।

तैतरीय संहिता में कहा है:—

मित्रो जनान् जातयति प्रजाननमित्रोदाधारपृथिवीमुतद्या ॥
मित्रः कुष्टी रनिमिषा भिचष्टे ॥

इसका अर्थ यह है कि सूर्य्य जनों को प्रेरणा करता है। सूर्य्य द्युलोक और पृथ्वी को धारण करता है। मित्र मनुष्य और देवों को देखता है। वायु बहने का कारण सूर्य्य ही है। इस पर ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है:—

"सवितारं यजति यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरतः पश्चादय भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्यष एतत्पवते ॥
(ऐ. ब्रा. २. ७)"

इस मंत्र में यह दिखलाया गया है कि सूर्य्य के यजन करने के कारण उत्तर पश्चिम की ओर से बहुत वायु बहता है। क्योंकि वह सूर्य्य से उत्पन्न होता है।

आधुनिक ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता जानते हैं कि सूर्य्य उदय और अस्त नहीं होता। उसका उदयास्त होना पृथ्वी की गति के कारण हमें दिखलाई देता है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी की गति के कारण जब पृथ्वी के एक हिस्से में दिन होता है, तब उसके दूसरे विपरीत हिस्से में रात होती है। इस बात को अत्यन्त स्थूल रूप से हमारे प्राचीन आर्य्य हजारों वर्ष पहिले जानते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा है—

"सवा एष न कदाचनास्तमेति नो देति तं यदस्त मेतीति-मन्यं तेन्ह एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्य्यस्यते रात्रीमेवा-वस्तात कुरूतेहः परस्तादथयेदनं प्रातरूदेतीति मन्यंते रात्रेरेवं तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहेरवावस्तात कुरुते रात्रीं परास्तात स वा एष न कदाचन निम्रोचति।" १४-६

जब लंका में सूर्य्य उगता है, तब जावा में दुपहर होता है। जब अमेरिका में सूर्यास्त होता है तब रोम में आधी रात होती है। इस बात को निम्नलिखित श्लोक में कितनी अच्छी तरह बतलाया है:—

"लंकापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात्तदादिनार्द्धं यमकोटि पुर्य्याम्।
भवेतदासिद्धपुरेऽस्तकालः स्याद्रोमके रात्रि दलंत देवः॥"

चन्द्रादि में निज का प्रकाश नहीं है। वे सब सूर्य्य से प्रकाश ग्रहण करते हैं। यह बात निम्नलिखित श्लोक में प्रदर्शित की है:—

"भूगृह भानांगोलार्द्धानिवस्वच्छा यथा विवर्णानि।
अड़वीनि यथासारं सूर्य्याभिमुखा निदीप्यन्त॥"

अर्थात् पृथ्वी, गृह आदि सब सूर्य्य से प्रकाश पाते हैं। इनका जो आधा हिस्सा सूर्य्य के सामने रहता है, वह हमेशा प्रकाशित रहता है। अथर्ववेद में कहा है:—

"दिविसोमो अधिश्रितः ।"

अर्थात् चन्द्र अपने प्रकाश के लिये सूर्य पर अवलम्बित है तैतरेय संहिता में कहा है:—

"सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गंधर्वः" ॥ अर्थात् चन्द्र, सूर्यरश्मि है, अर्थात् उसे सूर्य्य से प्रकाश प्राप्त होता है।

ध्रुव प्रदेश में जो छः मास के दिन रात होते हैं उन्हें निम्न-लिखित श्लोक में प्रदर्शित किया है:—

"विषुवद्वृत्तं द्युसदांक्षिते जित्वमितं तथाच दैत्यानां ।
उत्तर याम्यौ क्रमशो मूर्द्धोद्धगताधुरवायतस्तेषां ॥
उत्तर गोलेक्षिति जगादुर्द्धं परितोभ्रमन्तमादित्यम् ।
हब्यं त्रिदशः सततं पश्यन्त्यसुराः असन्यगंयाभ्य ॥"

ग्रहण के सम्बन्ध में

यद्यपि वेदों में ग्रहण के सम्बन्ध में कुछ मंत्र आये हैं पर उनसे यह ज्ञात होता है कि वेदकाल में ग्रहण के सम्बन्ध में लोगों को वास्तविक ज्ञान नहीं था। पर उस समय ग्रहण भय का कारण भी नहीं समझा जाता था। ग्रहण के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी आर्य्यभट्ट और वराहमिहिर के ग्रन्थों में मिलती है। आर्य्यभट्ट ने कहा है:—

"छादयत्यर्कमिन्दुविधुं भूमि भाः" अर्थात् जब पृथ्वी घूमते घूमते सूर्य्य और चन्द्र के बीच में आ जाती है और जब पृथ्वी की छाया चन्द्र पर गिरती है, तब चन्द्रग्रहण होता है। जब चन्द्र, सूर्य्य और पृथ्वी के बीच आ जाता है तब सूर्य्यग्रहण होता है। वराहमिहिर ने लिखा है—"चन्द्रग्रहण के समय पृथ्वी की छाया चन्द्र पर पड़ती है। सूर्य्यग्रहण के समय भी ऐसा ही होता है।"

वर्षा के सम्बन्ध में

वैदिक समय में हमारे ऋषियों को यह भी बात ज्ञात थी कि सूर्य्य के तेज से जल की भाफ बन कर आकाश में सर्वत्र फैल जाती है, और फिर उसीसे मेघ बन कर पर्जन्य वृष्टि होती है। यजुर्वेद की आपस्तम्ब संहिता में लिखा हैः—

"अग्निर्वाइतो वृष्टि मुदीरयति मरुतः सृष्टा नयन्ति। यदा खलु वा असा वादित्योन्यङ रश्मिभिपर्यावर्ततेथवर्षति॥"

स्मृति में भी इसी आशय का वचन कहा हैः—

"अग्नौ प्रास्ता हुतिः सम्यक आदित्य मुपतिष्टते।
आदित्याज्जयते वृष्टिर्वृष्टे रन्नं ततः प्रजा॥"

इन्द्र-धनुष के विषय में

हमारे प्राचीन आर्यों को इन्द्र-धनुष होने के यथार्थ कारणों का भी भलीभाँति ज्ञान था। "अद्भुतसागर" नामक एक प्राचीन ज्योतिष शास्त्र विषयक ग्रन्थ में लिखा हैः—

"सूर्य्यस्यविविधवर्णाः पवनोदक मेव च।
घटिताः साभ्रेधनुः संस्थानाद्येदृश्यन्तेतन्द्रिधनुः॥"

अर्थात् सूर्य्य की विविध प्रकार की किरणें वायु और जल का संयोग पाकर मेघाच्छादित आकाश में जो चमत्कार प्रकट करती है वही इन्द्र-धनुष है।

उसी विषय पर काश्यप ऋषी ने कहा हैः—

रविकिरण जलधमरूतां संघातो।
धनु खस्थितो धनुर्मेघोनः॥

इसका भाव यह है कि सूर्य्य की किरणें वायु और मेघ से मिश्रित होने के कारण स्थलांतर पर जो धनुष्याकृति उत्पन्न करती है वही इन्द्रधनुष है।

आधुनिक ज्योतिषियों ने अपनी खोज द्वारा यह प्रकट किया है कि सूर्य स्वयं प्रकाशक नहीं हैं वरन् सूर्य का वातावरण ज्योतिर्मय होने के कारण वह प्रकाशमान दीखता है। अद्भुत-सागर में भी यह बात कही गई है। उसमें कहा है:—

"भानोर्वायु वेषनं प्रखर तेजो युग्म ॥"

अर्थात् सूर्य का वातावरण प्रखर तेज से युक्त है। धूम-केतुओं का भी हमारे आर्यों ने शोध लगा लिया था। इस सम्बन्ध में वे आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों तक से आगे बढ़ गये थे। चीनी लोगों ने ३०० धूमकेतु माने हैं। आर्य्य विद्वानों को ७०० धूमकेतुओं का पता लगा था। वे इनके अतिरिक्त दूसरे उपधुमकेतुओं को भी मानते हैं, और कहते हैं कि ये चन्द्र के समान प्रकाशित हैं।

१. धूमकेतु नाम के सहश्र संख्योति
२. धूमकेतोः सुताधोरा, शतमेकाधिकं चतत्
३. शशिवद् भास मानास्ती वद्धा।

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के विषय में हमारे भारतीयों ने न्यूटन और गैलिलिओं के सैकड़ों वर्ष पहले आविष्कार कर लिया था। हमारे यहाँ कहा है—

"आकृष्ट शक्तिश्च महितयायत् स्वस्थं गुरु स्वाभमुखं स्वऽशक्त्या। आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् कृपत्त-त्वियं रवेः।

अर्थात् पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होने से वह आकाश के पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करती है। इससे वे गिरते हुए दिखलाई देते हैं।

ग्रह नक्षत्रादि का ज्ञान

वैदिक काल में हमारे आर्यों को नक्षत्रों का ज्ञान था। यह बात तत्कालीन ग्रन्थों से स्पष्ट व्यक्त होती है। ऋग्वेद संहिता में कहा है—"अपत्ये तावयो यथा नक्षत्रायंत्यक्तुभिः ॥ सुराय विश्व चक्षसे ॥

अर्थात् विश्व दर्शी सूर्य के आते ही चोरों की तरह नक्षत्र और रात्रि भग जाती है। तैतिरीय श्रुति में नक्षत्रों का उल्लेख कई जगह आया है।

इसी प्रकार अथर्व संहिता आदि और भी अनेक सुप्राचीन आर्य्य ग्रंथों में नक्षत्रों के नाम आये हैं।

नक्षत्र पद्धति के जनक कौन हैं?

कितने ही पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि मूल में नक्षत्र पद्धति भारतीयों की नहीं है। वह उन्होंने ग्रीकों से ली है। पर यह कल्पना भ्रमात्मक है। वेद में एक कथा है जिसका सारांश यह है कि चन्द्र रोहिणी नक्षत्रों का साच्छादन करता है, अतएव चन्द्र की रोहिणी पर अति प्रीति है। क्या इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि नक्षतों का ज्ञान भारतवासियों को उस समय भी था जब उनका यूनानियों के साथ सम्पर्क भी नहीं हुआ था। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि भारतवासियों ने नक्षत्र पद्धति चीन, बाबिलोन, तथा अन्य किसी अज्ञात राष्ट्र से ली और इसका काल वे ईसवी सन् पूर्व ११०० वर्ष के पहले नहीं बतलाते हैं। हां प्रो० बेबर ने यह काल ईसवी सन् पूर्व २७८० वर्ष बतलाया है, पर प्रो० बेबर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वान् इस बात को भूल गये कि नक्षत्रों के नाम ऋग्वेद संहिता में पाये जाते हैं, जिसका रचना काल

कम से कम ईसवी सन् के पूर्व ५००० वर्ष है। हाँ यह बात हो सकती है कि चीन आदि देशों ने स्वतंत्र रूप से इसे ग्रहण न की हो। सुप्रख्यात ज्योतिषी विद्वद्वर्य शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने गणित लगाकर अपने भारतीय "ज्योतिषशास्त्र" नामक ग्रंथ में यह सिद्ध किया है कि शक संवत् के ५००० वर्ष पूर्व भारतीयों को नक्षत्र ज्ञान हो गया था।

सारांश

मतलब यह है कि हमारे प्राचीन भारतवासियों ने अत्यंत प्राचीनकाल में उन ज्योतिषशास्त्र संबन्धी बातों का पता लगा लिया था जिन्हें आजकल के शोधकों ने आविष्कृत की हैं। उन्हें अत्यन्त प्राचीनकाल में २७ नक्षत्रों का ज्ञान था। ऋग्वेद तक में इनका उल्लेख है। ऋग्वेद में सप्तऋषि ताराओं तथा ग्रहों का भी उल्लेख है। यजुर्वेद में तो २७ नक्षत्रों का बहुत कुछ वर्णन आया है। अश्वलायन सूत्र में ध्रुव और अरुंधती का उल्लेख है। शनिकृत रोहिणी शकट भेद का ज्ञान तो उन्हें सात हजार वर्ष पहले भी था। महाभारत में ग्रह, धूमकेतु तथा ताराओं का वर्णन स्थान स्थान पर आया है। वाल्मीकि रामायण में कई जगह नक्षत्रों तथा ग्रहों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त हमारे आर्य्यों ने ज्योतिषशास्त्र संबन्धी कई ग्रंथों का भी आविष्कार किया था। उन ग्रन्थों के नाम ये हैं—गोलयन्त्र, चक्रयन्त्र, नाड़ीवलय, घटिकायन्त्र, शकु, फलकयन्त्र, यष्टियन्त्र, सर्वतोभद्रयन्त्र, यन्त्रराज, ध्रुवभ्रम यन्त्र, आदि आदि।

सातवां अध्याय

प्राचीन भारतवर्ष के नगर और उनकी संस्कृति

प्राचीन भारतवर्ष में बड़े बड़े सुन्दर भव्य नगर थे। उन नगरों की संस्कृति (Culture) और सभ्यता बहुत चढ़ी बढ़ी थी। उनकी रचना अद्भुत और आश्चर्य कारक थी। कला-कौशल का अद्भुत नमूना था। आरोग्य, व्यापार आदि कई प्रकार की सुभीताएँ देखकर नगर रचना की जाती थी? श्री रामायण में महाराजा दशरथ के समय की अयोध्या का जो वर्णन है, क्या वह किसी आधुनिक सभ्य नगर से कम है। महाभारत में इन्द्रप्रस्थ और द्वारिका का जो भव्य विवेचन है, कौन कह सकता है कि वे एक ऊँचे दर्जे के सभ्य नगर नहीं थे? दशरथ की अयोध्या में तथा श्रीकृष्ण की इन्द्रप्रस्थ और द्वारिका में मानवी आरोग्य आराम और सुख की कितनी दिव्य सामग्रियाँ थी? अब हम पौराणिककाल के नगरों को छोड़ कर ऐतिहासिककाल की ओर झुकते हैं।

सम्राट सिकन्दर के समय तक्षशिला न केवल भारतवर्ष ही में वरन विराट और विशाल एशिया खण्ड में सब से बड़ा नगर था। बौद्ध जातक कथाओं में लिखा है कि यह नगर ज्ञान का केंद्र स्थान था। आयुर्वेद की शिक्षा के लिये तो यह संसार भर में प्रख्यात था।

सुप्रख्यात इतिहासवेत्ता प्लीनी ने लिखा है कि ईस्वी सन् की पहिली सदी के दक्षिण भारत में मदुरा नगर अपनी व्या-पारिक और राजनैतिक गति विधि के लिये एशिया और यूरोप

तक में प्रसिद्ध था। इसका रोम राज्य के साथ व्यापारिक और राजनैतिक सम्बन्ध था। इसकी संस्कृति (Culture) और सुन्दरता उच्च श्रेणी की थी। तामिल साहित्य की यहाँ बड़ी गति विधि थी। यहाँ की विद्वत्परिषद् सुप्रसिद्ध थी। दूसरी और तीसरी सदी में लिखे हुए तामिल ग्रन्थों से पता लगता है कि इस नगर की शोभा और समृद्धि अद्वितीय थी। यहाँ ऊँचे ऊँचे भव्य और सुविशाल मकान थे। यहाँ का नागरिक जीवन आरोग्यशील और सुसभ्य था।

वातापी

सातवीं सदी में चौलुक्य मराठों की राजधानी वातापी, जो कि बीजापुर जिले में है, बड़ी मशहूर थी। इसका अन्तर—राष्ट्रीय महत्व बहुत था। इसका कीर्ति कलाप सुन कर ईरान सम्राट खुसरु के राजदूत इस नगर में आये थे। अजण्टा की भव्य गुफाएं इसी नगर के कारीगरों के हाथ के नमूने हैं। बङ्गाल का तामरलिप्ता (तमलुक) नगर भी बड़ा प्रसिद्ध था। सातवीं सदी में इस नगर का जिक्र करते हुए ह्यूएनसंग ने लिखा है कि इस नगर में जवाहरात और बहुमूल्य तथा दुष्प्राप्य व्यापारिक पदार्थों का विशाल खजाना था। यहाँ के लोग बड़े समृद्धिशाली थे। यहाँ समुद्रीय बन्दर था, जहाँ से लोग चीन जाने के लिये जहाजों में बैठते थे।

कन्नौज

प्राचीनकाल में कन्नौज की कीर्तिपताका भी सारे एशिया खण्ड में उड़ रही थी। सुप्रख्यात संस्कृत कवि बाण भट्ट ने अपने हर्ष-चरित्र में इस नगर की भव्यता का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। ह्यूएनसंग ने इस नगर के गौरव और समृद्धि का

वर्णन करने के बाद लिखा है कि यहाँ सैकड़ों ऐसी संस्थाएँ थीं, जहाँ बुद्ध धर्म्म के बड़े बड़े विद्वान् रहते थे। इनकी संख्या कोई १००० थीं। यह नगर सुदृढ़ किलेबन्द था, और चार मील तक फैला हुआ था।

उज्जैन

मालवा का उज्जैन नगर तो सैकड़ों वर्षों से प्रसिद्ध था। बौद्धकाल के पूर्व भी इसकी ख्याति चारों ओर फैली हुई थी। यहाँ की अपूर्व समृद्धि और गौरव का वर्णन संस्कृत कवियों ने बड़ी सुललित भाषा में किया है। यहाँ की व्यापारिक गति-विधि बड़ी तेज थी। कई शताब्दियों तक यह उत्तरीय और दक्षिणीय भारत के बीच का व्यापारिक केन्द्र रहा। इसी सुप्रख्यात नगर से गुप्तकाल के सुप्रख्यात ज्योतिषी बराह-मिहीर ने पृथ्वी के Longitude. का अन्दाजा किया था।

पाटलिपुत्र

इस नगर के गौरव तथा, भव्यता, और विशालता की प्रशंसा करते हुए संस्कृत कवियों की तो बात ही क्या, पर विदेशी प्रवासियों तक ने अपनी लेखनी तोड़ दी है। ईस्वी सन् पूर्व की तीसरी और चौथी सदी में यह नगर न केवल भारतवर्ष में—न केवल एशिया खण्ड में—पर सारे संसार में सब से अधिक विशाल, विस्तृत, भव्य और सुन्दर था। इस नगर का क्षेत्र-फल लगभग २१½ मील था। इसमें ५७० बुर्जें (Towers) और ६४ (Gates) दरवाजे थे। उस समय यूरोप का सब से बड़ा नगर एथेन्स इसके सामने न कुछ था। बौद्धधर्म का यह केन्द्र स्थान था। इस नगर की समृद्धि और गौरव अद्वितीय था। यहां की सफाई और स्वच्छता बड़ी नयन मनोहर थी। सुप्रख्यात संस्कृत

कवि वासवदत्त छठी सदी में हुआ है। उसने तत्कालीन पाटलिपुत्र का वर्णन किया है। यद्यपि वह अलङ्कारों से पूर्ण है, तथापि हम उससे इतना जान सकते हैं कि इस नगर के मकान सफेदी किये हुए और नाना प्रकार की चित्रकारियों से सुसज्जित थे। पाल राज्यकाल के शिलालेखों से पता चलता है कि जब पाटलिपुत्र बङ्गाली सम्राटों के आधीन था, उस समय उसकी सैनिक कीर्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी।

पालवंश के राज्यकाल में पाटलिपुत्र के निकटस्थ गङ्गा नदी सैनिक जहाजों से (Boato cf Uar) भरी रहती थी। यहाँ हजारों हाथी और लाखों घोड़े रहते थे। इस समय भी पाटलिपुत्र का सौभाग्यमय सूर्य चमक रहा था।

इस प्रकार भारतवर्ष में और भी कितने ही भव्य और सुप्रख्यात नगर थे, जिनका उल्लेख आर्य शास्त्रों में तथा विदेशी प्रवासियों के लिखे हुए वृत्तान्तों में मिलता है।

आठवाँ अध्याय

प्राचीन भारत में लोक संघ

कई पाश्चात्य विद्वान कहा करते हैं कि प्राचीन भारत में लोकतन्त्र की भावनाएं विद्यमान न थी। भारतवासी लोक-तन्त्र से नितान्त ही अपरिचित थे। लोकतन्त्र की भावनाएं उन्होंने पाश्चात्यों से ग्रहण की हैं। यह उनके लिये विदेशीय है। वे हमेशा एक तन्त्रीय राजप्रणाली की चक्की में पिसते आये हैं। पर दर असल यह बात नहीं है। ऐसी बातें वे ही लोग कहते हैं जो या तो भारत के इतिहास से अपरिचित हैं या वे अपने स्वार्थ के लिये अपनी जातीय श्रेष्ठता को दूसरों के मुकाबिलों में ऊँची बतलाने के लिये भारत की राजनैतिक सभ्यता और संस्कृति को संसार की निगाह में गिराने की नीच अभिलाषा रखते हैं। हम स्वीकार करते हैं कि भारत-वर्ष में सैकड़ों वर्षों से नहीं, वरन् हजारों वर्षों से एक तन्त्री राज्य का अस्तित्त्व रहा है। हम स्वीकार करते हैं कि भारत के कई स्वेच्छाचारी राजाओं ने प्रजा पर ज़ुल्म और अत्या-चार किये हैं। पर इससे यह मान लेना कि भारत में लोक-तन्त्र की भावना ही नहीं थी निरी अज्ञानता और मूर्खता है।

हम देखते हैं कि भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से लोक-तन्त्र की भावनाएं हैं। भारत में लोकतन्त्र और लोक सभाओं का अस्तित्त्व वेदिककाल से चला आ रहा है। पर यहां हम ऐतिहासिक काल ही की बातें कहेंगे। बौद्धकाल ही से भारत का प्रकृत ऐतिहासिक युग प्रारंभ होता है। बौद्ध

ग्रन्थों से हमें पता लगता है कि भारत में उस समय कई गण-तन्त्र राज्य तो मौजूद थे ही, पर इसके अतिरिक्त भारतवासियों के सामाजिक और आर्थिक जीवन तक में लोकसत्ता की भावना का अस्तित्त्व था। भगवान् बुद्धदेव के समय में (ईस्वी सन् पूर्व ६२३–५४३) तथा प्रख्यात वैयाकरणी पाणिनी के समय में "लोकसंघ" नामक संस्था का अस्तित्त्व पाया जाता है। जुदे जुदे तरह के लोगों के जुदे जुदे संघ रहते थे। जैसे व्यापारियों का संघ, कृषकों का संघ, सैनिकों का संघ, धर्माचार्य्यों का संघ इत्यादि। इनके और भी कितने ही नाम थे, यथा समूह, गण आदि। इनका कार्य्य बिल्कुल नियमानुसार चलता था। इनमें चुनाव करने की तथा वोट देने की पद्धति भी मौजूद थी। आधुनिक सभा समितियों में जिस प्रकार विना कोरम (Quorum) के कोई कार्य्य नहीं होता है, ठीक यही बात उस समय के लोकसंघों में भी थी। बौद्ध सूत्र महावग्ग में लिखा है कि बिना निश्चित संख्या के समुदाय के अगर कोई कार्य्य किया जायगा तो वह माना नहीं जायगा। पाठक देखिये भारतवर्ष में ईस्वी सन् पूर्व की छटी सदी में कोरम रखने की प्रथा थी। अब मत लेने की बात (System of votiug) को लीजिये। हम बौद्ध ग्रन्थों में देखते हैं कि उस समय सभा के सभासदों से वोट लेने की प्रथा भी थी। लकड़ी के टुकड़ों पर (शलाका) वोट लिये जाते थे।

एक बौद्ध सूत्र में लिखा है कि ये लकड़ी की शलाकाएं जुदे जुदे रंगों की होती थीं। सभा में पहले इन शलाकाओं के रंगों की विशेषता को समझा दिया जाता था। कहा जाता था कि अमुक रंग की शलाका अमुक मत के मनुष्यों के लिये हैं। फिर वे उपस्थित सभासदों में बाँट दी जाती थीं। जिस

मत के अधिकांश वोट आते थे, उसी के अनुसार कार्य्य किया जाता था।

सव्वग सूत्र में लिखा है कि "ऐ भिक्षुको जिस ओर अधिक लोगों की सम्मति आवे, वही काम करो।" मतलब यह है कि हमारे भारतवर्ष में इतने अधिक प्राचीनकाल में भी प्रजातन्त्र (Democracy) की वे ही पद्धतियां मौजूद थीं, जो आज कल है। अभी तक हमने लोक संघों का सामान्य दृष्टि से विवेचन किया, अब हम अगले अध्याय में जुदे जुदे लोक संघों का ज़रा विस्तृत विवेचन करते हैं, जिससे पाठकों को भली प्रकार ज्ञात हो जावे कि प्राचीनकाल के सामाजिक जीवन में थी लोकसत्ता के तत्त्व मौजूद थे।

नवाँ अध्याय ।

किसान कारीगर और व्यापारियों के संघ

प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि प्राचीन भारत में किसान, कारीगरों और व्यापारियों के ऐसे संघ मौजूद थे, जिनका सञ्चालन लोकतन्त्रीय भावनाओं से होता था। इन संघों को श्रेणियां भी कहते थे। गौतम, (ईस्वी सन् पूर्व ५५०) मनु, ब्रहस्पति, शुक्र आदि स्मृतिकारों ने अपने ग्रन्थों में कृषकों की श्रेणियों का विवेचन किया है। बहुत से दीवानी और फौज़दारी मुकद्दमों तक का ये श्रेणियां फैसला करती थीं। इन्हें म्युनिसिपैलिटी का भी अधिकार था।

कृषकों के एवं व्यापारियों के जो संघ या श्रेणियां थीं उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ शिलालेख भी मिले हैं। दक्षिण भारत के जो शिलालेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें व्यापारियों की श्रेणियों का उल्लेख है। उनमें से एक में लिखा है कि विक्रम चौलुक्य के समय में अर्थात् ईस्वी सन् १११८ में मद्रास में व्यापारियों की एक श्रेणी थी जिसके ५०० सभासद थे। दक्षिण के भारतीय साम्राज्य से इस श्रेणी का बहुत सम्बन्ध था। गुप्तकालीन भारतवर्ष में सेठों और व्यापारियों की, आज कल के "व्यापारी चेम्बर" के ढङ्ग पर कई श्रेणियां थीं।

सुप्रसिद्ध स्मृतिकार गौतम ने भी अपने धर्मसूत्र में व्यापारियों की श्रेणियों (guild) का उल्लेख किया है। इन्हें कानून बनाने वाली श्रेणियों में कहा है, इससे यह प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् के पूर्व ६ सदी में भी व्यापारियों की

श्रेणियां थीं। इनके अधिकार बहुत विस्तृत थे। व्यापार और उद्योग धंधों सम्बन्धी कई मुकद्दमों का फैसला ये कर सकती थीं। कई बौद्धजातक कथाओं में भी इसी प्रकार की व्यापारिक श्रेणियों (guilds) का उल्लेख है।

व्यापारियों की तरह कारीगरों की श्रेणियों के उल्लेख भी जहां तहां मिलते हैं। गुप्त राज्यकाल में इनका अधिकांश रूप से अस्तित्त्व था। स्कन्दगुप्त के समय इन्द्रपुर नगर में इसी प्रकार की तेलियों की एक श्रेणी (guild) का उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में पाया जाता है। कुमारगुप्त के समय में (४१३-४५५) दसपुरा नगर में रेशम बुननेवाले जुलाहों की कई श्रेणियां थीं। इस बात का उल्लेख गुप्तकालीन शिलालेखों में है। ये लोग पश्चिमी गुजरात से आये थे और इनमें से कुछ लोगों ने सिपाहीगिरी, ज्योतिष आदि के भिन्न २ व्यवसाय अङ्गीकार कर लिये थे। विद्वद्वर्य्य डाकृर भाण्डारकरने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि ईस्वी सन् के प्रारंभ काल में आन्ध्र सम्राटों के राज्य में अनाज बेचनेवालों की, दवाफरोशों की तथा सुगन्धित तेल बनानेवालों की कई श्रेणियां थीं। गुप्त काल की श्रेणियों की तरह ये तिजारत का काम भी करती थीं। अपने अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि के लिये ये लोगों का उचित ब्याज पर धन भी जमा रखती थीं। ईस्वी सन् १२० में नासिक नगर में कई श्रेणियां थीं। नासिक के शिलालेखों में इनका स्पष्ट उल्लेख है।

श्रेणियों का अधिकार और शासन

इन श्रेणियों को कई प्रकार के राजनैतिक अधिकार भी प्राप्त थे। इनके अपने स्वयं के न्यायालय थे। श्रेणी से सम्बन्ध रखने-

वाले सब मुकद्दमों के फैसले इन्हीं न्यायालयों में होते थे। बृहस्पति ने तो लिखा है कि राजकीय न्यायालय भी इन फैसलों को स्वीकार करता था। ये श्रेणियाँ अपने कानून आप ही बनाती थीं। राज्य इनमें कभी हस्तक्षेप नहीं करता था। गौतम ने अपनी स्मृति में लिखा है कि किसान, व्यापारी, महाजन, कारीगर आदि को यह अधिकार था कि वे खुद अपने अपने वर्ग के लोगों के लिये कानून बनावें। इन श्रेणियों के फैसलों की अपील जब उच्च राजकीय न्यायालय में की जाती थीं, तब न्यायाधीश श्रेणियों ही के कानून के मुताबिक फैसला करता था। कहने का मतलब यह है कि एक तरह से इन श्रेणियों को स्वराज्य और आत्म-निर्णय के अधिकार प्राप्त थे। इन्हें राज्य-सत्ता की तरह बहुत कुछ स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त थे। इन्हें अपनी सीमा के (Gurisdiction) मुकद्दमों में देश निकाला देने तक का अधिकार प्राप्त था। प्रो० विनय कुमारसरकार का कथन है कि तत्कालीन चीन देश की श्रेणियों से ये भारतीय श्रेणियां अधिक महत्त्व पूर्ण थीं।

दसवां अध्याय

प्राचीन भारत में पंचायतें

हमने गत अध्याय में बतलाया है कि प्राचीन भारत में लोकसत्तात्मक गुणों का किस प्रकार अस्तित्व था; और उन्हें कौन से अधिकार थे। हम देखते हैं कि मध्ययुगीन भारत-वर्ष में भी इनका अस्तित्व रहा है। हाँ, नाम और कार्य पद्धति में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया था। एक ग्रन्थ में लिखा है कि सुप्रसिद्ध चौलुक्य सम्राट राज राजा प्रथम (९८५-१०१३) के समय में कोई चालीस गाँवों के लोग अपना शासन आप करते थे। सर्वसाधारण की सभा द्वारा शासनकार्य सञ्चालित किया जाता था। इसके पहले सम्राट प्रान्तक के समय में (९०७ से ९४८) ग्राम मण्डलों की बड़ी बड़ी सभाएँ होती थीं, और उनमें शासन के महत्व-पूर्ण कार्यों पर भी विचार किया जाता था। कई ग्रामों की छोटी २ पञ्चायतों के ऊपर एक प्रधान पञ्चायत होती थी, इसका अधिवेशन साल में चार मर्तबा होता था।

चौलक्य साम्राज्य की स्थानीय स्वराज्य सरकार (Imperial Government का यह नियम था कि प्रत्येक मनुष्य जिसकी आयु तीस वर्ष से ऊपर और पचहत्तर वर्ष से नीचे हो तथा उसके ताबे में पाँच एकड़ ज़मीन हो, अथवा घर का मकान हो, इस पञ्चायत का सदस्य बन सकता था। दो तरह के लोग इसके सभासद होने के लिये अयोग्य समझे जाते थे। एक तो वे जिन्होंने पहले पञ्चायत के सभासद रह कर हिसाब

देने में गड़बड़ की हो या जिन्होंने सार्वजनिक द्रव्य का दुरुपयोग किया हो। दूसरे वे जो किसी भयङ्कर अपराध के अपराधी रह चुके हों।

हम पहले कह चुके हैं कि इन पञ्चायतों का-ग्राम्यमंडलों—का एक मध्यवर्ती केन्द्र रहता था। इस केन्द्रवर्ती पंचायत के आधीन बहुत से छोटे बड़े गावों की पंचायतें रहती थीं। इन पंचायतों को केन्द्रवर्ती पंचायतों में (Central Community) अपने प्रतिनिधि भेजने पड़ते थे। इस चुनाव में वोट देने की जो पद्धतियाँ काम में लाई जाती थीं, वे ध्यान देने योग्य हैं। प्रत्येक गाँव तीस तीस हल्कों में (Divisions) बाँट दिया जाता था। इन हल्कों में रहनेवाला प्रत्येक मनुष्य वोट देने के टिकट पर उस मनुष्य का नाम लिख देता था, जो उसकी राय में केन्द्रवर्ती पंचायत में जाने के योग्य होता था। फिर इन जुदे जुदे वार्डों के टिकट इकट्ठे कर उन्हें हल्के वार जुदे जुदे बंडलों में बाँध दिये जाते थे। प्रत्येक बंडल पर उसके हल्के (Ward) का नाम लिख दिया जाता था, जिसके टिकट उसमें होते थे। फिर ये सब बंडल सर्वसाधारण की सभा के सामने एक बड़े बर्तन में रखे जाते थे। पुरोहित भी इस चुनाव के समय उपस्थित होते थे। इन पुरोहितों में जो सब से वृद्ध होता था, वह इस बर्तन के पास जाकर पास ही खड़े हुए किसी अबोध बच्चे को बुलाता और उससे कहता कि "ऐ बालक ! इस बर्तन में से किसी बंडल को उठा लें।" फिर वह बच्चा उस बर्तन में से अपनी इच्छानुसार किसी बंडल को उठा लेता। इसके बाद एक दूसरे बर्तन में उस बण्डल के टिकट बिखेर दिये जाते थे, और फिर उसी बच्चे से उन बिखरे हुए टिकटों में से एक टिकट उठा लेने के लिये कहा जाता था। वह

बच्चा उनमें से एक टिकट उठा लेता। उस टिकट में जिसका नाम होता वही मनुष्य उस गाँव की ओर से मध्यवर्ती पंचायत का सभासद् चुन लिया जाता था। इस प्रकार मध्यवर्ती दक्षिण भारत में भी लोगों के द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनने की प्रथा मौजूद थी।

इन पञ्चायतों के जो पदाधिकारी होते थे, उनका प्रत्येक साल में परिवर्तन होता था। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पदाधिकारियों की नियुक्ति नहीं होती थी, वरन् चुनाव होता था। इससे कई लोगों को व्यवहारिक कार्य करने के कारण सहजतया नागरिकत्व का ज्ञान होता था। इसके अतिरिक्त यहाँ एक अत्यन्त महत्व की बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि इन पञ्चायतों या सभाओं में स्त्रियों के लिये किसी प्रकार की रुकावटें नहीं थीं। दक्षिण भारत में मिले हुए कई शिलालेखों से इस बात का पता चलता है कि स्त्रियां भी इन ग्राम्य मण्डलों की सदस्या होती थीं।

इन पञ्चायतों के—ग्राम्य मण्डलों के—सिर पर बड़ी बड़ी जिम्मेदारियाँ रहती थीं। History of Deccan नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ग्यारहवीं सदी में सिंहलद्वीप ((Cezlon) के गाँवों की पञ्चायतें खून और चोरियों तक के मुकद्दमों का निर्णय करती थीं। उन्हें अपराधियों को सजा देने या जुर्माना करने का अधिकार था। सिंहलद्वीप के राजराजेश्वर सम्राट की आज्ञाओं का अमल होता है या नहीं इस बात के लिये भी वे लोग जिम्मेदार माने जाते थे।

दक्षिण भारत के जीवरम ग्राम के पास जो दस बारह शिलालेख मिले हैं, उनसे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्राम्य मण्डल पर अपनी अपनी सीमा के सम्पूर्ण शासन की

जिम्मेदारी थी। दक्षिण भारत की ग्राम्य पंचायतों का अपने अपने गाँव की भूमि पर स्वामित्व था। इन्हें बहुत से अधिकार थे। गाँव की मालगुजारी भी यही वसूल करती थीं। अगर गाँव से कोई कर उठाना होता तो इन्हें इस बात का अधिकार था। इन पंचायतों को किसी भी भूमि के जप्त करने का और उसे दूसरे को बेच देने का भी अधिकार था। हां, पर इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाता था कि किसी पर अन्याय न होने पावे। जो आदमी तीन वर्ष तक अपनी जमीन की मालगुजारी नहीं दे सकता था, उसी की भूमि जप्त की जाती थी।

हम पहले कह चुके हैं कि इन ग्राम्यमंडलों को, पंचायतों को, खून और चोरी जैसे मुकदमों पर भी फैसला देने का अधिकार था। श्रीयुत् अयङ्गर ने अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि अभियोग के स्वरूप, उद्देश्य और गम्भीरता पर पूरा पूरा विचार कर अपराधी को कम ज्यादा सजा दी जाती थी। मान लीजिए किसी के हाथ से भूल से खून हो गया तो उसे उस मनुष्य की अपेक्षा बहुत कम दण्ड दिया जाताथा, जो जान बूझ कर खून करता था। खून तक के अपराधी को दण्ड देने के लिये इन्हें अपनी केन्द्रवर्ती संस्था से नहीं पूछना पड़ता था। हां, इनके फैसले के खिलाफ़ अपील करने का मार्ग खुला था।

हमने ऊपर ग्राम्यमण्डल के अधिकारों पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। हमने यह दिखलाया है कि मध्ययुगीन भारतवर्ष में किस प्रकार इन्हें स्वभाग्य निर्णय के अधिकार प्राप्त थे। पर हमें यहां यह न भूलना चाहिये कि इन्हें यह सब अधिकार केन्द्रवर्ती शासन-सत्ता से प्राप्त थे। इनकी स्वतन्त्र राजसत्ता नहीं थी। आजकल जिस प्रकार स्थानीय सरकार को प्रान्तीय सरकार

से सारी सत्ता प्राप्त होती है, और उस सत्ता का प्रयोग करने में जिस प्रकार वह स्वतन्त्र रहती है, उसी प्रकार मध्य युगीन भारत में इन ग्राम्य मण्डलों को अपनी सरकार द्वारा अधिकार प्राप्त थे। और उन अधिकारों का उपयोग करने में वे स्वतन्त्र थे। हम पीछे चौलुक्य साम्राज्य की ग्रामपञ्चायतों के साधारण अधिकारों पर कुछ लिख चुके हैं, पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यह सब अधिकार चौलुक्य सम्राट से परवाना द्वारा प्राप्त हुए थे। इन सब बातों से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत में शासन की कितनी उत्तम व्यवस्था वर्त्तमान थी।

भारतीय ग्राम्य मण्डलों पर पाश्चात्यों का मत

भारत की इन ग्राम्य मण्डलों की पंचायतों की कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। भूतपूर्व गवर्नर जनरल लार्ड मेटकॉफ ने अपने ईसवी सन् १८३० वाले खलीते में लिखा था—

भारतवर्ष के ग्राम्य मण्डल छोटे छोटे लोकसत्तात्मक राज्य हैं। उनके पास वे सब पदार्थ हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है। अतः वे सर्व प्रकार के बाहरी सम्बन्धों से स्वतन्त्र हैं। यही कारण है कि अन्य संस्थाओं के नष्ट होने पर भी वे सजीव हैं। कई राज्यघराने नष्ट हो गये, और कई क्रान्तियां हो गईं, हिंदू, पठान, मुगल, मरहठे और सिक्खों ने क्रम से देश जीता, किन्तु ग्राम्य मंडल पूर्वतः बने ही रहे। शत्रु के आक्रमण के समय में गांव अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित रहते हैं। जब शत्रु गाँव के पास से निकलता है, तो वे अपने पशुओं को शहरपनाह में बन्द कर देते हैं और उसे बिना छेड़ छाड़

के जाने देते हैं। ××× ग्राम्य मंडलों में इस प्रकार का यूनियन है, कि जिसमें प्रत्येक गाँव एक छोटासा प्रजातन्त्र राज्य (Republic) मालूम होता है। इहोंने अनेक क्रांतियों और परिवर्तनों में भी अन्य सब लोगों से अधिक भारतवर्ष की रक्षा की है। ये ग्राम्य मण्डल भारतवर्ष के सुख और स्वतन्त्रता के प्रधान रूप से सञ्चालक रहे हैं। इसी प्रकार सर चार्लस ट्रेवेलियन ने लिखा है—

"One foreign conqueror after another has swept over India, but the village communities have stuck to the soil like their own Kusa grass अर्थात् अनेक विदेशी विजेताओं ने एक के बाद एक चढ़ाइयाँ की, पर यहाँ के ग्राम्य मण्डल पूर्ववत् कुश को तरह जमीन से चिपके ही रहे।

ग्यारहवाँ अध्याय।

प्राचीन भारतवासियों का चरित्र

रिचॉर्ड पाल महोदय ने अपने सुप्रख्यात ग्रंथ To the Nations में लिखा है कि किसी राष्ट्र या जाति की महानता, उसके आदर्श और चरित्र की महानता पर निर्भर करती है। उपरोक्त लेख का भाव यह है कि अन्याय पूर्वक बड़े बड़े राज्यों को जीत लेने से तथा सारे संसार पर प्रभुत्व करने से किसी राष्ट्र की महानता प्रकट नहीं होती। उसकी महानता तो उसके उच्च आदर्शों में (Noble ideals) और दिव्य चरित्र में रही हुई है। इस दृष्टि से अगर हम प्राचीन भारत को देखते हैं, तो हम उसे संसार का शिरोमणि और दिव्यता का केन्द्रस्थल पाते हैं। हमारे प्राचीन भारतवासियों के दिव्य-चरित्र के सम्बन्ध में प्राचीनकाल के अथवा अर्वाचीनकाल के कितने ही विद्वानों ने प्रशंसा के उद्गार निकाले हैं। सु-प्रख्यात इतिहास वेत्ता एरियन (जो दूसरी सदी में हुआ) कहता है कि कोई भारतवासी झूठ बोलता हुआ नहीं देखा गया। स्ट्रेबो ने लिखा है कि हिन्दुस्तानी इतने प्रमाणिक हैं कि उन्हें अपने मकानों के द्वारों पर ताला लगाने की आवश्यकता नहीं होती और उन्हें न किसी इकरार के अमली रूप के लिये कागज़ी दस्तावेज़ की ज़रूरत होती है। सुप्रख्यात चीनी प्रवासी ह्यूएनसंग ने लिखा है—भारतवासी अपनी सरलता, प्रमाणिकता और उच्चचरित्र के लिये प्रसिद्ध हैं। वह कभी अन्याय पूर्वक दूसरे के धन को नहीं लेते। सु० वी० नामक ग्राम के

राजा का एक रिश्तेदार ईसवी सन् २३१ में भारतवर्ष में आया था। उसने लिखा है कि भारतवासी सीधे और ईमानदार होते हैं। चौथी सदी में फ्रायर जॉडनिस ने लिखा था कि भारतवासी सच बोलनेवाले और न्याय को प्रधानता देनेवाले होते हैं। उनका सदाचार उनकी प्रामाणिकता सु-प्रख्यात है। इड्रिसी अपने भूगोल में लिखते हैं कि भारतवासी स्वभावतया ही न्याय प्रिय होते हैं। वे अपने कार्य में भी न्याय के महान् तत्व को प्रकट करते हैं।

तेरहवीं सदी में शमसुद्दीन अब्दुला ने एक महान मुसलमान का मत उद्धृत किया है, उसका सारांश यह है कि "रेत के कणों की तरह हिन्दुओं की असंख्य संख्या है, वे धोकेबाज़ी और अत्याचारों से मुक्त हैं। वे जीवन मरण से नहीं डरते हैं" मारको पोलो जो तेरहवीं सदी में हुआ लिखता है कि, "हिन्दू संसार में सब से अच्छे व्यापारी और सब से अधिक सच्चे हैं, वे इस पृथ्वी पर किसी चीज़ के लिये झूठ नहीं बोलते।"

अकबर के जमाने के सुप्रख्यात् विद्वान् अबुलफजल कहते हैं कि हिन्दू लोग सत्य की तारीफ करनेवाले और अपने सब व्यवहार में सच्चे रहने वाले हैं। सर जान मालकन साहब लिखते हैं कि भारतवासियों का सत्य उतना ही उल्लेखनीय है, जितना कि उनका धैर्य्य।

कर्नल स्लिमन जो कई दिन तक हिन्दुओं में रहे हैं, और जिन्होंने हिंदू चरित्र का भली प्रकार अवलोकन किया है, लिखते हैं—"गावों के लोग आपस में झूठ नहीं बोलते मेरे सामने ऐसे हजारों मामले उपस्थित हुए हैं, जिनमें मनुष्य की जायदाद, स्वतन्त्रता और जिन्दगी उनके झूठ बोलने पर निर्भर थी, पर उन्होंने झूठ बोलने से इन्कार किया।"

प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि भारतवासियों के राष्ट्रीय चरित्रों में सत्य-प्रेम एक ऐसी चीज थी, जिसने उन सब लोगों को मोहित कर दिया, जिनसे भारत का सम्बन्ध हुआ। सुप्रसिद्ध ग्रीक प्रवासी मैगेस्थेनिज कहता है कि भारतवासियों में दासत्व की प्रथा न थी, यहाँ स्त्रियों का सतीत्व अलौकिक था, लोगों में अचल धैर्य्य था, बहादुरी में वे एशियावासियों से बढ़े चढ़े थे। ये बड़े गम्भीर, शान्त और मिहनती थे, अच्छे कारीगर थे, ये शायद ही कभी झूठा मुकद्मा दायर करते हों। ये लोग अपने देशी राजाओं के नीचे शान्तिपूर्वक रहते थे।

अकबर-दरबार के सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक अबुलफ़ज़ल लिखते हैं कि "हिन्दू धार्मिक, नम्र, दूसरों के प्रति दया और सहानुभूति दिखानेवाले, न्याय प्रेमी, कार्य कुशल, कृतज्ञ हृदय, सत्य प्रेमी और व्यवहार के सच्चे हैं।" कर्नल डिक्सन ने—जो अजमेर मेवाड़े के चीफ़ कमिश्नर थे—हिन्दुओं की सत्य परायणता, प्रामाणिकता, वीरता और राज्यभक्ति की बड़ी प्रशंसा की है। और यह भी कहा है कि हिन्दूस्थानी संसार भर में सब से अधिक सहनशील हैं। वे सभ्य प्रामाणिक और परिश्रमी हैं। सारे संसार के लोगों में वे ही एक ऐसे हैं जो जीवधारियों को तकलीफ़ नहीं पहुँचाते।

सर मॉनियर विलियम्स लिखते हैं कि हिन्दू लोग किसी भी प्राणी का वध करना नहीं चाहते। सरजान मालकम हिन्दुओं के चरित्र की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि सत्य-प्रियता और विश्वास पात्रता में संसार में कोई जाति हिन्दुओं की बराबरी नहीं कर सकती।

भारत के पहिले गवर्नर जनरल ने लिखा है कि जो लोग हिन्दुओं के साथ रहते हैं, वे कदापि नहीं कह सकते कि सभ्य

मनुष्यों में होनेवाले किसी आवश्यक सद्गुण से वे विहीन हैं। प्रोफेसर मोनियर विलियम्स भी यही कहते हैं कि मैंने हिन्दुओं से अधिक धर्मात्मा मनुष्य यूरोप में नहीं देखे सब राष्ट्र के लोगों से हिन्दू अधिक धार्मिक हैं।

मि० कॉलेमन कहते हैं कि भारतवासियों ने जो नैतिक आज्ञाएँ जारी की हैं, तथा जैसा काव्य का सौन्दर्य प्रकट किया है, उसे स्वीकार करने में किसी भी आधुनिक या प्राचीन राष्ट्र को न शर्माना चाहिये। इस प्रकार अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारतवासियों के दिव्यचरित्र की उनके उच्च और पवित्र जीवन की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि हम उन सब का उल्लेख करें।

बारहवाँ अध्याय

भारतवासियों का क्षात्रधर्म

गत अध्याय में हम कई पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानों के प्रमाणों के आधार पर भारतवासियों के दिव्यचरित्र के विषय में लिख चुके हैं यहाँ हम उनके क्षात्रधर्म के विषय में दो शब्द लिखते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसा दिव्य और अपूर्व चरित्र प्राचीन भारतवसियों का रहा है वैसा ही अलौकिक और दिव्य उनका क्षात्र धर्म भी रहा है। इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि आर्य क्षात्र धर्म में अपूर्व-वीरत्व, अलौकिक सहायता, उत्कृष्ट सत्य, पवित्रआदर्श और उच्च श्रेणी का मनुष्यत्व रहा हुआ है। पृथ्वीमण्डल के किसी देश का क्षात्रधर्म उन आध्यात्मिक तत्वों से इतना परिपूर्ण नहीं है, जितना प्राचीन भारतवासियों का क्षात्रधर्म था। आज कल का युद्ध वैज्ञानिक है। उसमें क्षात्र धर्म दिखलाने का उतना अवसर नहीं मिलता जितना पहले के युद्धों में मिलता था। इसके अतिरिक्त आज कल क्षात्रधर्म में स्थान स्थान पर धोके बाजी, कुटिलता, शत्रु को धोका देने की विविध चालों ही का विशेष प्रधानत्व है।

महाभारत के देखने से पता चलता है कि उस समय का क्षात्र धर्म नैतिक बन्धनों से बहुत जकड़ा हुआ था, यद्यपि महाभारत के समय थोड़ीसी कूट नीति (Diplomacy) का प्रचार हो गया था, पर यह निसन्देह कहना पड़ेगा कि उस समय धार्मिक नियमों की उपेक्षा नहीं की जाती थी।

महाभारत के युद्ध के वृतान्तों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस युद्ध में अनेक ऐसी बातें देखी जाती हैं, जिनसे उस समय के भारतवासियों की दिव्यसंस्कृति और उच्च चरित्र का प्रदर्शन होता है। हम उस धर्मयुद्ध का वर्णन श्रीयुत् राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य के "महाभारत मीमांसा" नामक ग्रन्थ से उद्धृत करते हैं।

धर्म युद्ध में यह नियम था कि रथी रथी पर, हाथी हाथी पर और घुड़सवार घुड़सवार पर हमला करें, जो लोग घोड़े पर बैठे हों, वे रथारूढ़ मनुष्यों पर हमला न करें और यह भी नियम था कि दोनों योद्धाओं के शस्त्र एक से ही हों। दुर्योधन ने गदा युद्ध के समय कहा था कि मुझ पर रथ से हमला न करो, गदा से युद्ध करो। यदि प्रतिपक्षी दुखाकुल स्थिति में हो तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। भयभीत हो जाने पर, पराजित मनुष्य पर, भागनेवाले पर वार तथा हमला नहीं करना चाहिये, और शस्त्र नहीं चलाना चाहिये। बाण विषलिप्त और उलटे कांटेवाले न हों, यदि किसी प्रतिपक्षी के शस्त्र भङ्ग हो जावे, उसकी प्रत्यञ्चा टूट जावे, उसका कवच निकल जावे, या उसके वाहन का वध हो जावे, तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिये, (शान्ति पर्व अ० ९५) युद्ध में जखमी होनेवाले शत्रु को अपने राष्ट्र में रख कर उसे औषधि देना चाहिये, या उसे अपने घर पहुँचा देना चाहिये। जखमी शत्रु को उसका जखम अच्छा हो जाने पर छोड़ देना सनातन धर्म है। राजा धर्मयुद्ध के नियमों को कभी त्याग न करे। इन नियमों का पालन करने में राजा की मृत्यु भी हो जाय तो उत्तम है।

महाभारत में स्पष्ट कहा है कि उस मनुष्य पर शस्त्र न

चलाया जाय, जो सोया हो, तृषित हो, थका हो, अपने कवच छोड़ने की तैयारी में हो, पानी पी रहा हो, खा रहा हो, या जिसका घोड़ा घासदाना ले रहा हो। प्राचीन काल में धर्मयुद्ध का यही नियम था, पर खास महाभारत के युद्ध में इनके विपरीत भी कुछ बातें देखी गईं थीं।"

दूसरी बात यह देखी जाती है कि भारतवासियों का क्षात्र-धर्म कर्त्तव्यमय था। वीरों के हृदय में द्वेष को विशेष स्थान नहीं था; वीर कर्त्तव्य की—धर्म की—भावना से प्रेरित होकर लड़ते थे। हम महाभारत में देखते हैं कि अर्जुन और भीष्मपितामह परस्पर विरुद्ध दल में थे, पर युद्ध समाप्त होने पर बड़े प्रेम और भक्ति से मिलते थे। अर्जुन भीष्मपितामह को बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते थे। इतना ही नहीं रात्रि के समय, जब धर्मयुद्ध नियमानुसार बन्द हो जाता था, तब परस्पर विरोधी दल के लड़ने वाले वीर एक दूसरे से मिलते थे, प्रेमालिङ्गन करते थे, सलाह मशविरा तक करते थे, महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है। इससे पाठक समझ सकते हैं कि महाभारत के समय में धर्म्मयुद्ध के नियमों में कुछ शिथिलता आजाने पर भी कितनी उच्च श्रेणी का उज्वल क्षात्र धर्म वर्त्तमान था।

महाभारत के बाद भी हम भारतवासियों में सहृदयतापूर्ण क्षात्रधर्म और अपूर्व वीरत्व देखते हैं। भारतीय इतिहास में ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त हैं, जिनसे क्षात्रधर्म का अलौकिक भाव प्रदर्शित होता है। टॉड साहब ने अपने सुप्रख्यात् "राजस्थान" नामक महान् इतिहास में राजपूतों के महान् और दिव्य क्षात्रधर्म की प्रशंसा करते हुए संसार को चैलेञ्ज दिया है कि वह इतनी उच्च-श्रेणी का सहृदयता और सत्य-मय तथा

कर्त्तव्य-मय क्षात्रधर्म का अन्यत्र कहीं उदाहरण बतलावें। राजपूतों के क्षात्र-धर्म में उन्हें धर्म्म का समुज्ज्वल प्रकाश दिखलाई पड़ा था, सुप्रख्यात मुसलमान इतिहासकार अबुल-फ़ज़ल अपने "आइने अकबरी" में लिखते हैं कि "संकट के समय में हिन्दुओं का चरित्र और उनकी कर्त्तव्य-भावना सौगुनी अधिक उज्ज्वल हो जाती है। हिन्दू बच्चा रण में पीठ दिखाना जानता ही नहीं है। जब हिन्दू वीरों को यह निश्चय हो जाता है कि अब मामला ख़तम हो चुका, युद्ध में यश आना असम्भव है, तब वह युद्ध में पीठ फिराने के बजाय केसरिया पोशाक पहन कर युद्ध में प्राण दे देना श्रेष्ठ समझते हैं। राजपूत वीरों का यह विश्वास है कि जो आदमी युद्ध में पीठ दिखाता है, वह नर्क में जाता है। राजपूतों के क्षात्र-धर्म की पवित्रता के विषय में अनेक मुसलमान और अंग्रेजों ने भी प्रशंसा के उद्गार निकाले हैं।

क्षात्रधर्म और देशभक्ति

यह कहने को आवश्यकता नहीं कि वही क्षात्रधर्म दिव्य है—आदर्श है—जिसका उपयोग पवित्र कार्य्यों के लिये किया जाता है। वही क्षात्रधर्म सार्थक है, जिसका उपयोग धर्म की रक्षा के लिये, देशभक्ति के उच्च तत्व के लिए किया जाता हो। धर्म और देशभक्ति शून्य शौर्य्य का ठीक वही मूल्य है, जो पातिव्रत्य शून्य सौन्दर्य्य का। वीर राजपूतों के इतिहास में हमें जगह जगह धर्मयुक्त शौर्य्य तथा क्षात्र तेज के उदाहरण मिलते हैं। हम देखते हैं कि स्वदेश के नामोच्चारण से वीर राजपूतों के हृदय फड़क उठते थे, उनके रग रग में नया खून, नया-जीवन-प्रवाहित होने लगता था। टॉड साहब ने लिखा है कि

संसार की किसी जाति ने इतनी उज्ज्वल देशभक्ति प्रकट नहीं की, जितनी राजपूत जाति ने की थी। आगे चल कर फिर टॉड साहब लिखते हैं:—

"ग्रीस पर जब भर्सिस का हमला हुआ था, तब ग्रीकों ने जो शौर्य्य और देश-भक्ति प्रकट की थी, उसे देख कर सारा जगत चकित हो गया था पर भारत में जब कि अकबर के समान विकट शत्रु से—जो कि तत्कालीन सब राज्यों में बलवान् था और जिसकी सैन्य संख्या भर्सिस की सेना से श्रेष्ठ और संख्या में भी अधिक थी—मेवाड़ का राणाप्रताप अपनी जन्म-भूमि की रक्षा के लिये अपनी अल्प सामग्री से २५ वर्ष तक लड़ा था। सब राज्य सुख छोड़ कर प्रताप को पर्वत २ पर धूप और शीत में घूमना पड़ा था, अन्न के दाने २ के लिए मुहताज होना पड़ा था, यह किस लिये, क्षात्रधर्म के उच्च आदर्श की रक्षा के लिये। आल्पस पर्वत की तरह अरबली के पर्वत पर भी, एक कंकर ऐसा न होगा, जिसे प्रताप ने अपने विजयशाली पराक्रम से, क्षात्रधर्म के उच्च आदर्श से या विजय से भी अधिक कीर्त्ति कर पराजय से पुनीत न किया हो। हल्दी घाटी मेवाड़ की धर्मापली और देवीर का रणक्षेत्र मेवाड़ का मॅराथॉन है।"

महाराणा प्रताप की तरह राठौर दुर्गादास ने भी क्षात्र-धर्म, स्वामी-भक्ति तथा देश-प्रेम का उज्ज्वल आदर्श बतलाया था। दुर्गादास राठौर राजपूत थे। पाठक जानते होंगे कि सम्राट् औरङ्गजेब के सेनापति जोधपुर के राजा जसवन्त सिंह का काबुल में खून हो गया था। महाराज जसवन्त सिंह के पुत्र अजित सिंह पर भी यही प्रसंग गुजरने वाला था। पर राठौर दुर्गादास ने बालक अजित सिंह की और उनकी माता की रक्षा करने में जिस अपूर्व वीरत्व और दिव्य शौर्य्य का

परिचय दिया था, वह इतिहास में स्मरणीय रहेगा। इसके बाद भी स्वामी की रक्षा के लिये, जन्म-भूमि मारवाड़ की स्वाधीनता के लिये-राठौर दुर्गादास ने अपनी जान को हथेली पर रख कर तीस वर्ष तक जिस अपूर्व शौर्य्य और अलौकिक स्वामीभक्ति का परिचय दिया था वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे जाने योग्य है।

कर्नल टॉडसाहब ने लिखा है कि "संसार के इतिहास में स्वामीभक्ति का इतना दिव्य आदर्श और उज्ज्वल उदाहरण कहीं नहीं मिलेगा, जितना कि वीरवर दुर्गादास के कार्य्यों से मिलता है। वीर दुर्गादास ने अत्याचारी औरङ्गजेब के हाथ से अपने स्वामी की तथा मारवाड़ की स्वाधीनता की रक्षा की पर कृतघ्न अजित सिंह ने इनकी बहुमूल्य सेवाओं के बदले में इन्हें देश निकाला दिया।

भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे क्षात्र-धर्म के उच्च विकास का, समुज्ज्वल देश-भक्ति का, और स्वामीभक्ति के दिव्य आदर्श पता लगता है, हाँ इतना कहना आवश्यक है कि वीर राजपूतों का स्वदेश वही होता है, जो खास उनका प्रान्त होता था, उन्होंने सारे भारत को लक्ष्य में नहीं रखा।"

तेरहवां अध्याय

प्राचीन भारतवर्ष में आबपाशी।

कश्मीर के सुप्रख्यात इतिहास लेखक कवि कल्हण ने अपनी "राजतरंगिणी" में लिखा है कि महापद्म झील में तथा अन्य नदियों में बारम्बार बाढ़ आ जाने के कारण कश्मीर की फसल को बहुत हानि पहुँचती थी और इससे वहाँ बहुत कम फसल होती थी। पर महाराजा अवन्तिवर्मन (८३३-५८) के समय में बड़ी भारी आर्थिक क्रान्ति हुई। इस आर्थिक क्रांति के मूल जनक सूय्य (Suyya) थे जिन्हें अपने गुणानुसार अन्नपति की उपाधि दी गई थी। इन्होंने उसी जल को जो देशों के नाश का कारण होता था, नहरों में विभक्त कर देश को बहुमूल्य आर्थिक लाभ पहुँचाया। इन्होंने जगह जगह नहरें बनवा दीं, और फजूल बहने वाले जल को इस प्रकार विभक्त कर दिया, जिससे खेती की फसल कोई आठ दस गुनी बढ़ गई। इसका फल यह हुआ कि चावलों की दर बिलकुल गिर गई। जहाँ पहले उसकी दर २०० दीनार थी, वहाँ आबपाशी की इस व्यवस्था के बाद ३६ दीनार रह गई।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में भी आबपाशी की बहुत उत्तम व्यवस्था की गई थी। चंद्रगुप्त के गवर्नर (राष्ट्रीय) पुष्प-गुप्त ने गिरनार पर एक विशाल सरोवर बनाया था, इसका नाम सुदर्शन सरोवर था। महाराजा अशोक के राज्य-काल में इस तालाब से नहरें निकलवा कर खेतों को जल दिया जाने लगा। इससे आबपाशी की बढ़िया व्यवस्था

होगई और आस पास के देशों में फसल कई गुनी अधिक उत्पन्न होने लगी। ईस्वी सन् १५० में रुद्रदमन ने इसकी मरम्मत करवाई। स्कंदगुप्त के समय में (४५८) में फिर इसकी दुबारा मरम्मत करवाई गई। इस समय गुप्त-साम्राज्य के मन्त्री चक्रपालित ने इस मरम्मत की देख रेख की थी। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि मौर्य्य या गुप्त साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से गिरनार कोई १००० मील दूर है। ताहम् भी राज्य की ओर से इतने दूरवर्ती प्रान्त के लिये भी आबपाशी की व्यवस्था की गई थी।

लंका (Ceylon) में भी आबपाशी की तरक्की पर बड़ा ध्यान दिया गया था। वहाँ के पराक्रम बाहू नामक राजा ने-जो बारहवीं सदी में हुआ था—कोई १४७० तालाब और ३६२१ नहरें बनवाई थीं। इनके अतिरिक्त उसने २३६५ बड़े तालाबों की तथा ३६२१ नहरों की मरम्मत भी करवाई थी। लंकाद्वीप में अब भी कोई स्थान ऐसा नहीं मिलेगा, जहाँ इन तालाबों या नहरों के भग्नावशेष न मिलते हों।

चौदहवां अध्याय

प्राचीन भारतवर्ष में सार्वजनिक कार्य

प्राचीन काल में राज्य की ओर से ऐसे अनेक उपकारी कार्य किये जाते थे, जिनसे सार्वजनिक हित का घनिष्ट सम्बध रहता था। पाठक! यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि संसार में सब से पहिले सार्वजनिक मुफ्त औषधालयों की नींव भारतवर्ष में ही पड़ी थी। सम्राट् अशोक ने ईसवी सन् पूर्व की तीसरी सदी में कई सार्वजनिक औषधालयों का उद्घाटन किया था। इनमें न केवल मनुष्यों ही की वरन् पशुओं तक की चिकित्सा का प्रबन्ध था। सम्राट् अशोक न केवल अपने राज्य के मनुष्यों ही की सुख समृद्धि पर ध्यान देते थे, वरन् दीन पशुओं के लिये भी उनके उदार और सदय अंतःकरण में पर्याप्त स्थान था। सम्राट् अशोक के बाद गुप्त राज्यकाल में फाईहान नामक एक विदेशी प्रवासी भारतवर्ष की यात्रा के लिये आया था। उसने अपने प्रवास वृतान्त में गुप्त साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र का उल्लेख किया है। उसमें वह लिखता है कि इस राजधानी में कई मुफ्त औषधालय हैं जिनमें दीन, दुखी, अन्धे, लूले आदि बीमारों की मुफ्त चिकित्सा की जाती है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में कई ऐसी संस्थाएँ भी थीं जिनका कार्य्य ज्ञान, कला और कौशल का विकास था। ये संस्थाएँ ज्ञान की वृद्धि के लिये अन्वेषण का कार्य (Re search) करती थीं। इनका कार्य बड़े प्रतिष्ठित और अनुभवी विद्वानों के हाथ में रहता था। ऐसी संस्थाओं में विहार स्थित

नालंद विश्वविद्यालय विशेष उल्लेखनीय है। इस महान ज्ञानकेन्द्र के जनक नृसिंह गुप्त बालादित्य थे। सुप्रख्यात चीनी विद्वान् इत्सिंग ने दस वर्ष तक (६७५ से ६८५) इसमें विद्याध्ययन कर आयुर्वेद और न्याय-शास्त्र में प्रवीणता प्राप्त की थी। इसमें कोई ५००० विद्यार्थी शिक्षा लाभ करते थे। इस विश्वविद्यालय को भारतवर्ष के कई उदार और सहृदय नृपतियों से आर्थिक सहायता मिलती रहती थी। इसकी अधीनता में २०० गाँव थे, जिनसे लाखों रुपयों की प्रतिसाल आमदनी होती थी। इस महान् विश्वविद्यालय का भवन बड़ा ही भव्य और सुविशाल था। इसकी भव्यता को देख कर सुप्रख्यात चीनी प्रवासी ह्यूएनसंग मुग्ध हो गया था। इस विश्वविद्यालय में बड़ी बड़ी प्रयोग शालाएँ भी थीं। इसी विश्वविद्यालय की दिव्य प्रेरणा से जापान में नारा नगर के पास एक महा विद्यालय खुला था। ९वीं सदी में उक्त नालंद के विश्वविद्यालय में वीरदेव नामक अफगानिस्तान का हिन्दू निवासी चान्सलर हुआ था। इस विश्वविद्यालय से कई ऐसे विद्वान् वैज्ञानिक और दार्शनिक निकले थे, जिनकी कीर्ति ध्वजा सारे संसार में फहरा रही थी।

पन्द्रहवां अध्याय

भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव

गत अध्याय में हम भारतीय सभ्यता और उसकी प्राचीनता पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। इस अध्याय में हम यह दिखलाना चाहते हैं कि अति प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता का सारे भूमण्डल पर किस प्रकार अद्भुत और अलौकिक प्रभाव रहा था। जुदे जुदे देशों में भारतीयों का तथा भारतीय सभ्यता का किस प्रकार प्रभाव था।

चीन में भारतवर्ष

सर डबल्यू जॉन्स फरमाते हैं कि चीनी लोग अपनी उत्पत्ति हिन्दुओं से बतलाते हैं। कर्नल टॉड महोदय ने अपने Annals ot Raiasthan नामक ग्रन्थ में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चीनी लोग अपने आपको "अवर" की सन्तान बतलाते हैं और यह "अवर" हिन्दू राजा पूर्व का पुत्र था। प्राचीन चीनी ग्रन्थों के देखने से पता लगता है कि ईस्वी सन् के २८०० वर्ष पहिले फोही नामक एक नेता के सञ्चालन में पश्चिम की ओर से लोगों का एक समूह चीन में आकर बसा था। कई इतिहासवेत्ताओं का यह कथन है कि यह लोकसमूह शायद काश्मीर या पञ्जाब से गया होगा।

Ancient chinees Traditions नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ईस्वी सन् के ३००० वर्ष पहिले भारतीय वणिक गणों का एक दल चीन के कियाचाऊ बन्दर में उतरा था और उसने

वहाँ अपने कई उपनिवेश बसाये थे। इस दल ने वहाँ बड़ा प्रभाव पैदा कर लिया था। चीन देश के सारे बाजारों पर इसका व्यापारी प्रभुत्व हो गया था। इतना ही नहीं, इसने अपने राजनैतिक प्रभुत्व की भी खूब छाप जमाई थी। उस समय वहाँ जो सिक्के ढाले गये थे, उन पर एक ओर तो चीन देश का राज्य चिन्ह था और दूसरी ओर इन भारतीय वणिकों का चिन्ह था। प्रोफेसर लेकोनपेरी अपने एक ग्रन्थ में लिखते हैं कि ईस्वी सन् के ६८० वर्ष पूर्व भारतीय समुद्र के व्यापारियों ने चीन में एक उपनिवेश बसाया था। प्रो० महोदय का कथन है कि चीन शब्द की उत्पत्ति भारत से हुई है। अमेरिका के येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डे महोदय अपनी History of Commerce में लिखते हैं कि ईस्वी सन् के २००० वर्ष पहले भारत और चीन के बीच में घना व्यापारिक सम्बन्ध था। बाल्मीकी रामायण में चीन में बनने वाले सुन्दर रेशम का विवेचन है। इस प्रकार हजारों वर्षों से चीन और भारत का सम्बन्ध रहा है। पर बौद्धकाल में यह सम्बन्ध और भी घनिष्ट हो गया था।

बौद्धधर्म का चीन पर प्रभाव

यह तो हम ऊपर बतला चुके हैं कि चीन-संस्कृति और सभ्यता (Civilization and culture) की मूल उत्पत्ति भारतवर्ष से है तथा यह भी सिद्ध है कि बौद्धधर्म ने चीन की सभ्यता और संस्कृति पर बड़ा ही गम्भीर प्रभाव डाला। ईस्वी सन् ५८—७६ के बीच चीन देश में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। इस समय चीन में मिंग-ती नामक राजा राज्य करता था। कहा जाता है कि इस राजा को एक रात्रि को स्वप्न

आया। इसमें इसने एक स्वर्णदेव को अपने राजवाड़े में प्रवेश करते हुए देखा। राजा ने अपने भाई को इसका फल पूछा। इस राजा का भाई बड़ा पण्डित था। इसने इसका फल बतलाते हुए कहा कि, राजा! यह स्वप्न तुम्हें भारतवर्ष के महामुनि शाक्यदेव के धर्म की शरण में जाने का आदेश करता है। बस इसी पर चीनाधिपति ने बौद्धधर्म की शरण ली। बौद्धधर्म के तत्वों को जानने के लिये उसने चीनी पंडितों का एक दल भारतवर्ष में भेजा। ज्यों ही यह दल भारतवर्ष में आया त्योंही बौद्धधर्म के दिव्य सिद्धान्तों का इसपर बड़ा प्रभाव पड़ा। जब यह दल बौद्धधर्म का ज्ञान प्राप्तकर वापस लौटा, तब अपने साथ बहुत से बौद्ध ग्रन्थ तथा बुद्ध भगवान् की मूर्त्तियाँ ले गया। चीन के राजा ने इन नव दीक्षित बौद्धों के लिये मठ और बौद्धमन्दिर बनवाये बस इसी समय से चीन में बौद्धधर्म का सूत्रपात हुआ। चीन में बौद्धधर्म बहुत उन्नति करता गया। तब ही से भारत के बहुत से बौद्ध भिक्षुक वहाँ जाने लगे। सुप्रख्यात् लेखक ओकारा लिखते हैं कि अकेले लोयांग प्रान्त में ३००० भारतीय बौद्ध-भिक्षुक और १०००० भारतीय कुटुम्ब थे। ये सब लोग तन, मन, धन से भगवान् बुद्धदेव के सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। चीन की भूमि को इन लोगों ने बौद्धधर्ममय बना दिया था। "काऊन्ट जॉनस्टर्जना" ने भी यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि चीन ने भारतवर्ष ही से धर्म के सिद्धान्त सीखे।

चीन में भारतीय आचार्य्य

बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये कई सुप्रख्यात बौद्ध भिक्षुक तथा आचार्य्य चीन गये थे। सन ३६८

में शाक्य वंशीय बुद्धभद्र नामक एक विख्यात् बौद्ध भिक्षुक उत्तरीय भारत के पथ से चीन में पहुँचे थे। ईस्वी सन् ४२० में काबुल के भूतपूर्व राजा के पौत्र गुणवर्मन सिंहलद्वीप और जावा होते हुए बौद्ध भिक्षुक के रूप में चीन पहुँचे। सन् ४३४ ई० में सिंहल द्वीप से बौद्ध साध्वियों का एक दल भगवान बुद्धदेव के धर्म का प्रचार करने के लिये चीन गया।

सन् ४३८ में सिंहलद्वीप से और ८ भिक्षुक चीन गये। सन् ५२६ में दक्षिण भारत के राजा के पुत्र बुद्धिवर्मा अपनी वृद्धावस्था में धर्म-प्रचार के लिये चीन पहुंचे। चीन के तत्कालीन सम्राट् ने उनका बड़ा सत्कार किया। सन् ५४८ में उज्जैन के परमयाति नामक एक बौद्ध सन्यासी चीन पहुंचे और उन्होंने वहां बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये खूब प्रयत्न किया। इस प्रकार सैकड़ों हजारों बौद्ध भिक्षुक भगवान् बुद्धदेव के धर्म प्रचार के लिये चीन गये और उन्होंने प्रायः सारे चीन में बौद्धधर्म की पताका फहराई। इन्हें यहाँ तक सफलता हुई कि खुद तत्कालीन चीन सम्राट् बौद्धधर्म की दीक्षा लेकर बौद्ध विहार में रहने लगे।

बौद्ध भिक्षुकों पर आपत्ति

संसार में धर्म प्रचारकों को कैसी कैसी आपत्तियां और यन्त्रणाएं सहन करना पड़ीं हैं इसका साक्षी इतिहास है। एक समय चीन में भी ऐसा आया कि वहां बौद्धधर्म के विरुद्ध भयङ्कर विरोध की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। ८वीं सदी में सरकारी आज्ञा से बौद्ध भिक्षुकों को यन्त्रणाएं दी जाने लगीं। यहां यह कहना भी आवश्यक है कि यह समय बौद्धधर्म के पतन का था। बौद्धधर्म और बौद्ध भिक्षुक

भगवान् बुद्धदेव के उच्च आदर्श से गिर चुके थे। कहा जाता है कि इस यन्त्रणा से दुःखी हो कर कोई १२००० बौद्ध भिक्षुकों ने चीन देश का त्याग कर दिया था। नवीं सदी में कोई ४६०० बौद्ध मठों का ध्वंस किया गया। दसवीं सदी में दस हजार बौद्ध-मन्दिर जला डाले गये। पर पीछे जा कर फिर बौद्ध धर्म की विजय दुँदुभी बजने लगी और आज सारा चीन बौद्धधर्म के महायान पन्थ का अनुयायी है।

जापान में भारतीय सभ्यता का प्रभाव

चीन की तरह जापान में भी भारतीय सभ्यता का अत्यन्त प्रभाव पड़ा था। एक सुप्रख्यात जर्मन प्रोफेसर अपने Geschichte der Japanischen literature नामक ग्रंथ में कहते हैं कि जापानी साहित्य पर भारतीय साहित्य का अद्भुत् प्रभाव पड़ा था। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् टाकाकासु महाशय ने Journal of the Asiatic Society १८०५ में एक लेख लिख कर यह प्रकट किया था कि प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता का प्रभाव जापान पर इतना ज्यादा पड़ा था कि जिसकी कल्पना भी अभी हम नहीं कर सकते। भारतीयों के दल के दल धर्म प्रचार के लिये जापान आते थे। इसी लेख में आप ने यह प्रकट किया है कि प्राचीन काल में भारद्वाज नामक एक विद्वान् ब्राह्मण साधु जापान आया था। यहां उसकी एक दूसरे साधु के साथ भेंट हुई थी। इसने जापान में बहुत से जापानियों को संस्कृत भाषा की शिक्षा दी थी। इस ब्राह्मण साधु का बनाया हुआ मठ अभी तक नारा नगर में मौजूद है। इसी समय जापान की वर्णमाला का आविष्कार हुआ था। इस वर्णमाला के अक्षरों की रचना

में संस्कृत अक्षरों की रचना से बहुत सहायता ली गई थी। जापान के पुराणों में ऐसे कई भारतवासियों के नाम मिलते हैं जो बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिये जापान गये थे। इनमें से एक का नाम बौद्धी-धर्म था। यह दक्षिण भारत का निवासी था। यह जापान गया और वहां उसने तत्कालीन जापान सम्राट् शोटोकू (५७३) से भेंट की। मध्य-भारत के एक दूसरे बौद्ध भिक्षुक ने धर्मप्रचार के लिये जापान की यात्रा की और वहां उसने एक बौद्ध-मन्दिर बनवाया।

जापान में बौद्धधर्म

कहा जाता है कि चीन से कोरिया में और कोरिया से जापान में बौद्ध-धर्म गया। ईस्वी सन् ५५२ में कोरिया के राजा ने जापान के राजा के पास दूत भेज कर बौद्ध-धर्म की प्रशंसा करवाई और कुछ बौद्ध मूर्त्तियां और ग्रन्थ भी भेजे। कितने ही इतिहास वेत्ताओं का मत है कि इसके पहिले भी जापान में बौद्ध धर्म जा चुका था, पर उसका यत्किञ्चित प्रचार हुआ था। पश्चात् अधिक प्रचार होने का कारण यह था कि जापान के मूल शिंटो राजा ने इसके प्रचार में बड़ी सहायता पहुंचाई। इसी लिये उस राजा का नाम बौद्ध साधुओं की की सम्माननीय सूची में रख दिया गया। सन् १८६८ तक जापान में बौद्ध धर्म्म को राज्याश्रय रहा। आज भी जापान में बौद्ध धर्म्म का बड़ा प्रभाव है।

कोरिया में भारतीय सभ्यता

चीन और जापान की तरह प्राचीन कोरिया में भी भारतीय सभ्यता का बड़ा सिक्का जमा था।। इसका श्रेय भी बौद्ध

धर्म को है। कोरिया देश में चीन देश से बौद्ध धर्म गया। ईस्वी सन् ३७२ में संदो नाम का एक चीनी मनुष्य बुद्ध भगवान् की मूर्ति और कुछ बौद्ध ग्रन्थ लेकर कोरिया सम्राट के दरबार में उपस्थित हुआ। कितने ही इतिहासवेत्ताओं का मत है कि इसे चीन सम्राट ने भेजा था। इसका वहाँ बड़ा प्रभाव पड़ा। तुरंत ही कोरिया के राजा ने दो बौद्ध मठ बनवाये। इसके बाद कोरिया के राजा ने चीन के राजाओं को लिख कर कुछ बौद्ध भिक्षुक बुलाये। निरन्तर पचास वर्ष तक बड़ी तीव्र गति से वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार होता रहा। बौद्धधर्म का इस देश पर इतना प्रभाव पड़ा कि एक समय एक बौद्ध भिक्षुक कोरिया के राज्य शासन पर आरूढ़ हुआ। इस समय बौद्ध धर्म्म को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। इस राजा ने ऐसा नियम बनाया था कि जिस मनुष्य के तीन लड़के हों, उनमें से एक को बौद्ध भिक्षुक की दीक्षा देना आवश्यक है। बौद्ध धर्म्म के कारण कोरिया का बड़ा विकास हुआ। पहले कोरिया में स्वतः लिपि नहीं थी। एक बौद्ध भिक्षुक ने चीनी लिपि में कुछ सुधार कर कोरियन लिपि तैयार की। चौदहवीं सदी में कोरिया में बड़ी राज्य क्रान्ति हुई। इसमें राज सत्ता मोगल जाति के हाथ से निकल कर चीन के मींग जाति के हाथ में गई। इसने बौद्धधर्म्म को राजाश्रय देने के बदले कन्फ्यूशस धर्म्म को राजाश्रय दिया। इससे इस देश में बौद्ध धर्म्म को बड़ा धक्का पहुँचा। पर अब भी वहाँ बौद्ध धर्म्म का अस्तित्व है और उसका बहुत कुछ प्रभाव भी है।

ईरान में भारतीय सभ्यता का प्रभाव

आधुनिक ऐतिहासिक अन्वेषणों ने उस जबर्दस्त प्रभाव

को प्रकट किया है, जो कई हजार वर्ष पहिले भारतवर्ष ने ईरान की सभ्यता पर डाला था। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जन्मदाता सर विलियम जॉन्स (Asiatic researches) लिखते हैं—"मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य्य होता है कि पारसियों के सुप्रख्यात ग्रंथ झेंद अवस्था में दस शब्दों में से छः या सात शब्द विशुद्ध संस्कृत के हैं। झोरेस्टेरियन धर्म के सुप्रख्यात विद्वान् डाकृर हेग अपने Haugh's Essays' में लिखते हैं:—अवस्था को भाषा से प्राचीन संस्कृत का, या यों कहिये कि वैदिक भाषा का इतना घनिष्ट साम्य है कि कई जगह तो लिपि भेद छोड़ कर दोनों ही एक जान पड़ती हैं। झेन्द अवस्था के अनुवादक पादरी मिल्स कहते हैं कि लिपि बदल देने से झेन्द अवस्था की भाषा प्रायः प्राचीन संस्कृत बन जाती है। एक इटालियन का कथन है कि झेन्द भाषा संस्कृत का अपभ्रंश मात्र है। प्रो० मेक्समूलर साहब का मत है यूजेन बर्नीफ और बॉप महाशय ने अपने Compurative Grammar में जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि झेन्द भाषा का व्याकरण संस्कृत से बहुत कुछ मिलता जुलता है। झेन्द भाषा के बहुत से शब्द केवल लिपि बदल देने से विशुद्ध संस्कृत के शब्द बन जाते हैं। संस्कृत भाषा का "स" अक्षर झेन्द भाषा में जाकर "ह" में परिवर्तित हो जाता है। संस्कृत में सहस्त्र एक शब्द है। वही उसी अर्थ को लिये हुए "हहस्त्र" हो जाता है।

अब हम कुछ संस्कृत और झेन्द भाषा के शब्दों क तुलना करते हैं, जिससे यह प्रकट हो जावेगा कि दोनों भाषाओं के शब्दों और उनके अर्थों में कितना आश्चर्यकारक साम्य है।

हम पहले कह चुके हैं कि संस्कृत का "स" भेन्द भाषा में "ह" हो जाता है। इस दृष्टि से निम्नलिखित शब्दों का साम्य देखिये।

संस्कृत	भेन्द	संस्कृत	भेन्द
असुर	अहुर	अस्मि	अहमि
सप्त	हप्त	सन्ति	हन्ति
मास	माह	विवस्वतः	विवहवतः
सेना	हेना		

संस्कृत भाषा का "ह" भेन्द भाषा में "झ" बन जाता है।

संस्कृत	भेन्द	संस्कृत	भेन्द
हृदय	झृदय	हस्त	झस्त
बराह	बराझ	होता	झोता
आहुति	आझुति	हिम	झिम
मेधा	मेभ्दा	अहि	अझि

संस्कृत भाषा का "ज" भेन्द भाषा में "झ" बन जाता है।

संस्कृत	भेन्द	संस्कृत	भेन्द
जन	झन	वज्र	बझ्
अजा	अझा	जानु	झानु
यज्ञ	यभ्स्य	यजत	यझत्

संस्कृत शब्द "श्व" भेन्द भाषा में "स्प" हो जाता है।

संस्कृत	भेन्द	संस्कृत	भेन्द	संस्कृत	भेन्द
विश्व	विस्प	श्वन	स्पन	अश्व	अस्प

संस्कृत "त" भेन्द भाषा में "थ" हो जाता है।

संस्कृत	भेन्द	संस्कृत	भेन्द
मित्र	मिथ्र	त्रित	थ्रिथ
मन्त्र	मन्थ्र		

बहुत से ऐसे शब्द हैं जो संस्कृत और झेन्द भाषा में प्रायः समान रूप रखते हैं।

संस्कृत	झेन्द	संस्कृत	झेन्द
पितर (पितृ)	पितर	दुहितर	दुघतर
मातर (मातृ)	मातर	उक्षन	उक्षन्
पशु	पशु	मक्षी	मखसी
गो	गौ	अभ्र	अब्र
यव	यव	वैद्य	वैद्य
नमस्ते	नमस्थे	मनस	मनो
यम	यीम	वरुण	वरेण
वायु	वायु	इषु	इषु
देव	दैव	रथस्य	रथस्थ
रथ	रथ	प्रश्न	फ्रश्न
गान्धर्व	गान्धर्व	गाथा	गाथा
अथर्वन	अथर्वन्	इन्द्र	इन्द्र

यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि इन शब्दों का जो अर्थ संस्कृत में है, ठीक वही झेन्द भाषा में भी है। डाक्टर हेग महोदय का कथन है कि खास अवस्ता शब्द भी संस्कृत से निकला है।

जिस प्रकार संस्कृत और झेन्द भाषा के शब्दों में आश्चर्य कारक साम्य है, वैसे ही झेन्द भाषा के वाक्यों और प्राचीन संस्कृत भाषा के वाक्यों में भी बहुत कुछ साम्य दृष्टिगत होता है। डाक्टर हेग महाशय अपने सुप्रसिद्ध "Haugs' Essays" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि झेन्द अवस्ता और वेदों की गाथाओं में रहे हुए साम्य को देख कर सचमुच आश्चर्य होता है। दोनों में स्वरों की भी बहुत कुछ समता है। एक

विद्वान् ने तो यहाँ तक कहने का साहस किया है कि वेदों और झेंद् अवस्था की भाषा और भावों में यहाँ तक साम्य है कि इन दोनों में से किसी एक को जानने वाला किसी दूसरे को भी समझ सकता है। अवस्ता और वेदों में न केवल शब्दों और वाक्यों ही का साम्य है, पर अर्थ और भावों का भी अद्भुत साम्य है।

वेदों और अवस्ता में वर्णाश्रम पद्धति

वेदों में मानव समाज को चार भागों में गुण कर्मानुसार विभक्त किया है, यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र। ठीक इसी प्रकार की वर्णाश्रम पद्धति पारसियों के धर्मग्रन्थ अवस्ता में भी है। प्रोफ़ेसर डार मिस्टर महोदय ने अवस्ता का अंग्रेज़ी भाषान्तर किया है। उसकी भूमिका में वे कहते हैं—"अवस्ता में जब हम मानव समाज के इन चार जाति भेदों के वर्णन पढ़ते हैं, तब हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के चार जाति भेदों का स्मरण हो आता है। दर असल यह बात पारसियों ने हिन्दुओं से ग्रहण की है। झेन्द् अवस्ता के अतिरिक्त अन्य पारसी धर्म ग्रन्थों में भी इसी प्रकार की वर्णाश्रम पद्धति का वर्णन है।

इसी प्रकार और भी कई बातों में वेदों और अवस्ता में आश्चर्य कारक साम्य है। ईश्वर की जो कल्पना वेदों में की गई है, ठीक वही अवस्ता में भी पाई जाती है। वेदों के तैंतीस देवता अवस्ता में भी मौजूद हैं। आत्मा, अनात्मा, सृष्टि, प्रत्यय आदि की जो कल्पनाएँ वेदों में हैं, ठीक वही अवस्ता में भी मौजूद हैं। वेदों की तरह अवस्ता में भी पुनर्जन्म, यज्ञ आदि का उल्लेख है। इतना ही नहीं, जिस तरह हिन्दू शास्त्रों में गौ को पूज्य माना है, वैसे ही अवस्ता में भी माना है। सोमलता

का जिस प्रकार वेदों में उल्लेख है, वैसे ही "होम" नामक लता का अवस्ता में उल्लेख है। "सोम" और "होम" एक ही है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। संस्कृत का 'स' शब्द झेन्द भाषा में "ह" हो जाता है, अतएव संस्कृत का "सोम" झेन्द भाषा में "होम" हो गया। इस प्रकार वेदों और अवस्ता में बहुत ही साम्य है। इस आश्चर्य कारक समानता को देख कर कितने ही विद्वान् बड़े चक्कर में पड़ गये हैं। कितने ही विद्वानों ने गम्भीर अन्वेषण के बाद यह निश्चय किया है कि झेन्द भाषा संस्कृत की पुत्री है। फादर पोलो नामक एक विद्वान् का कथन है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ईरान में प्राचीन संस्कृत बोली जाती थी, और उसी से झेन्द भाषा की उत्पत्ति हुई। झेन्द अवस्ता के सुविख्यात अनुवादक "डार मेस्टर" महोदय अवस्ता के अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं कि सन् १८०८ में जान लिडन गम्भीर अन्वेषण के बाद इस निश्चय पर पहुँचे कि प्राकृत की तरह झेन्द भाषा भी संस्कृत की पुत्री है। एर-स्किन नामक एक पाश्चात्य विद्वान के मतानुसार झेन्द भाषा प्राचीन संस्कृत ही का विकृत रूप है और यह भाषा हिन्दुस्तान से ईरान लाई गई।

अमेरिका में भारतीय सभ्यता।

आजकल सर्वसाधारण में प्रायः यह भ्रान्ति फैल रही है कि अमेरिका का मूल आविष्कारक महामति कोलम्बस था। दुःख है कि अमेरिका को सर्व प्रथम ढूँढ निकालने का श्रेय हमें हम कोलम्बस महोदय को नहीं दे सकते। महामति कोलम्बस के जन्म के हजारों वर्ष पहिले भारतवासियों को अमेरिका का केवल ज्ञान ही न था, बरन उन्होंने वहाँ बस्ती बसाकर उसे

सभ्य बनाने का भी श्रेय प्राप्त किया था। हाल में वहाँ जिस प्रकार के प्राचीन अवशेष (Remains) मिल रहे हैं, उनसे उनकी अति प्राचीन सभ्यता पर बड़ा ही दिव्य प्रकाश गिरता है। वहाँ बड़े बड़े सुंदर नगरों के महान् दुर्गों के भव्य महलों के तथा सड़कों और नहरों के अवशेष मिले हैं। ये हजारों वर्ष के प्राचीन हैं। इन्हें देखकर किसी को भी यह प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि अति प्राचीन काल में अमेरिका की सभ्यता और संस्कृति अत्युत्कृष्ट श्रेणी को पहुँची हुई थी। अब सवाल यह है कि इस सभ्यता और संस्कृति का मूल क्या है?

कई पाश्चात्य विद्वानों के गम्भीर ऐतिहासिक अन्वेषण के बाद अमेरिका की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का मूल भारत वर्ष में पाया जाता है। मि० कोलमन अपने Hindu hythology नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—"महान जर्मन विज्ञानी और प्रवासी बेरन हेम्बोल्ड ने अमेरिका के प्राचीन हिन्दू अवशेषों (Hindu remains) का पता लगाकर यह प्रकट किया है कि प्राचीन काल में अमेरिका में हिंदू सभ्यता का असाधारण प्रभाव था।" मि० पिकॉक अपने सुविख्यात ग्रन्थ "India in Greece" में बड़ी ऐतिहासिक खोज के बाद लिखते हैं—"पेरू के अति प्राचीन निवासियों के रीतिरस्म भारतवासियों जैसे थे।" मि० हार्डी ने अपने Eastern monarch नामक ग्रंथ में यह प्रकट किया है कि प्राचीन अमेरिका की शिल्पनिर्माण विद्या प्राचीन भारत की शिल्प निर्माण विद्या से बहुत कुछ मिलती जुलती थी। इसके सिवाय और भी अनेक बाते हैं, जिनसे प्रगट होता है कि प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता ने अमेरिका पर खूब गहरा प्रभाव डाला था। निम्न लिखित बातों से इसकी सच्चाई पर कुछ प्रकाश गिरेगा।

(१) अमेरिका के प्राचीन निवासी भारतवासियों की तरह पृथ्वीमाता (Mother Earth) की पूजा करते थे। जिस प्रकार भारतवासी अपने देवता और वीरों के पद चिन्हों की पूजा करते हैं, अमेरिका के प्राचीन निवासी भी ठीक वैसा ही करते थे। सूर्य्य और चन्द्रग्रहण की जैसी मान्यता भारतवर्ष में है, ठीक वैसी ही अमेरिका में भी थी। वे भी यह मानते थे कि राहु और केतु चन्द्र और सूर्य्य को ग्रस्त कर लेते हैं और इससे ग्रहण होता है।

जिस प्रकार भारतवासी सूण्डवाली मूर्ति बनाकर गणेश जी की पूजा करते हैं, ठीक वैसे ही अमेरिका के प्राचीन निवासी भी करते थे। यह रिवाज विशेष रूप से अमेरिका के मेक्सिको नगर में प्रचलित था। इस पर जर्मनी के सुप्रख्यात विद्वान बेरन हम्बोल्ड ने लिखा है:—"प्राचीन मेक्सिको निवासियों की यह पूजा हिन्दुओं की गणेश पूजा से मिलती जुलती है।" कच्छावतार की जैसी कथा हिन्दू पुराणों में है, ठीक वैसी ही प्राचीन अमेरिका के पुराणों में है।

पौराणिक बातों को छोड़कर प्राचीन अमेरिकनों की रीति रस्में भी हिन्दुओं से मिलती जुलती थीं। एक जर्मन विद्वान का कथन है कि प्राचीन अमेरिकनों ने और बातें तो क्या, पोशाक तक की पद्धति हिन्दुस्तान से ली थी।

Asiatic Researches Volume 1 के पृष्ठ ४२६ में लिखा है:—"अमेरिका में अब भी रामचन्द्र और सीता की पूजा होती है।" मजा यह है कि इन देवताओं के नाम भी अब तक यही चले आ रहे हैं। वहाँ साल में एक मेला होता है जिसका रूप हमारे यहां के दशहरा जैसा है। सर डब्ल्यू जोन्स लिखते हैं:—"दक्षिण अमेरिका में राम सूर्य्य वंशी माने जाते

हैं। उन्हें सीता का पति और कौशल्या का पुत्र कहा गया है। पेरू के निवासी अपने आपको सूर्य्यवंशी कहते हैं और वे प्रति-साल रामसीता नामक एक मेला लगाते हैं। इससे अनुमान होता है कि दक्षिण अमेरिका प्राचीन काल में उन्हीं लोगों से बसा हुआ था, जिनसे आजकल हिन्दुस्तान बसा हुआ है।

प्राचीन अमेरिका के पुराण, शिल्पकला, रीतिरस्म, कथा, दर्शन, आदि सब से यही प्रकट होती है कि प्राचीन अमेरिका की सभ्यता भारतवर्ष से उद्धृत थी। महाभारत में भी लिखा है कि अर्जुन ने पाताल देश जीतकर वहाँ के कुरु राजा की कन्या से विवाह किया था। इस प्रकार और भी अनेक अन्वेषणों से यह पता लगता है कि प्राचीन अमेरिका ने भारत-वर्ष से बहुत कुछ प्रकाश ग्रहण किया है।

अमेरिका में बौद्ध सभ्यता

बौद्ध सभ्यता ने जिस प्रकार संसार के विविध देशों में अपना अपूर्व प्रभाव जमाया था, वैसे ही अमेरिका में भी उसने ज्ञान की किरणें फैलाने में कमी नहीं की थी। अमेरिका के सुप्रख्यात मासिकपत्र Literary Digest में इस सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसीका सारांश हम नीचे देते हैं। इससे पाठकों को पता लगेगा कि भारतवर्ष ने प्राचीनकाल में संसार को सभ्य बनाने के लिये कैसे कैसे प्रयत्न किये?

"कितने ही प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ है कि पांच बौद्ध भिक्षुक रूस से देश की उत्तर सीमा के द्वीपकल्प से पासिफिक महासागर को लांघकर अलास्का के बाजू से अमेरिका में जा रहे थे। इतना ही नहीं वे दक्षिण अमेरिका के मेक्सिको तक पहुँच गये थे। इस मार्ग से अमेरिका पहुँचना असम्भव नहीं

है। यह बात पृथ्वी के मानचित्र को सामने रखने से स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। इसके अतिरिक्त भाषा सम्बन्धी प्रमाणों से भी यह स्पष्ट होता है कि अब भी बौद्धों के कई नाम मेक्सि-को के नामों से मिलते जुलते हैं। उदाहरण के लिये मेक्सिको का "गातिमाला" नाम "गौतमालय" का अपभ्रंश है। इसके अतिरिक्त वहाँ बुद्ध भगवान की अब तक कई मूर्तियाँ विद्यमान हैं। इन सब बातों को देखकर प्रो० फायर ने सन् १९०१ के जुलाई मास के Harper's Magzine नामक मासिकपत्र में Buddhist discovery of America नामक एक विद्वतापूर्ण लेख लिखा था। उसमें आपने अनेक प्रबल प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का यत्न किया था कि १४०० वर्ष पहले बौद्ध भिक्षुक अमेरिका गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।

कम्बोडिया में भारतीय सभ्यता

अनेक ऐतिहासिक अन्वेषणों से यह ज्ञात होता है कि कम्बोडिया में भी भारतीय सभ्यता का अप्रतिहत प्रभाव पड़ा था। फ्रेञ्च सरकार के पुरातत्व विभाग ने कुछ इतिहासवेत्ताओं को ऐतिहासिक अन्वेषण करने के लिये कम्बोडिया भेजा था। उन्होंने वहाँ जाकर गम्भीर ऐतिहासिक अन्वेषण किया। इस अन्वेषण में उन्हें भारतीय सभ्यता के कई चिन्ह मिले। सुप्र-ख्यात फ्रेञ्च विद्वान एमोनियर (Aymonier) ने लिखा है कि कम्बोडिया के शिलालेखों से पता लगता है कि तीसरी सदी से लगाकर ग्यारहवीं सदी तक वहाँ हिन्दू राजाओं का राज्य रहा है। इसी समय वहाँ संस्कृत भाषा लिखी और बोली जाती थी। बारहवीं सदी के बाद संस्कृत लिपि का स्थान खेमर लिपि

ने लिया। यहाँ की प्राचीन मूर्तियाँ, स्मारक और प्राचीन खँड-हरों को देखने से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वहाँ महा-देव और गणेश जी की बहुतायत से पूजा और मान्यता होती थी। इनकी मूर्तियाँ वहाँ बहुत मिलती हैं। वहाँ नौवीं सदी के बने हुए विष्णु के भी मन्दिर हैं। कहा जाता है कि जब हिंदू लोग इस देश में उपनिवेश बसाने के लिये आये, तब वे अपने साथ हिन्दू धर्म के महाभारत, रामायणादि ग्रन्थों को भी लेते आये। ब्राह्मण धर्म के साथ साथ वहाँ बौद्ध धर्म्म भी अपना प्रभाव जमा रहा था। पीछे जाकर तो बौद्ध धर्म्म का ही प्राधान्य हो गया था। यहाँ तक कि कई हिन्दू मन्दिर बौद्ध मन्दिरों में परि वर्तित कर दिये गये थे। कुछ इतिहासवेत्ताओं ने गम्भीर अन्वे-षण के बाद यह प्रकट किया है कि सुप्रख्यात बुद्धघोष ने पाली भाषा के बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत अनुवाद करने के बाद पाँचवी सदी में कम्बोडिया में बौद्धधर्म्म का प्रचार किया। कम्बोडिया की लिपि और सिंहलद्वीप की पाली लिपि की साम्यता को देखते हुए भी यह अनुमान होता है कि कम्बोडिया में एक समय बौद्ध धर्म्म का भी बड़ा प्राधान्य रहा है। सातवीं सदी में बौद्धधर्म्म ने कम्बोडिया में अपना विशेष प्रभाव फैलाया था। इन सब बातों से उस अपूर्व प्रभाव का पता लगता है जो भारतीय सभ्यता ने इन देशों पर डाला था।

। समाप्त ॥